साहित्य समीक्षा

आलोचनाविषयक निबन्धात्मक

अपूर्व ग्रन्थ

लेखक—
साहित्य वाचस्पति
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

वसंतपञ्चमी
२००७

प्रकाशक—
जगन्नाथप्रसाद शर्मा
चूड़ी वाली गली, मथुरा।

मुद्रक—
सत्यपाल शर्मा
कांति प्रेस, माईथान आगरा।

प्राक्कथन

साहित्य समीक्षा नामक प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय समय पर लिखे हुए साहित्य विषयक आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। इन्हें मैंने विशेष रूप से आत्मानन्द के लिये लिखा था किन्तु यह समझ कर कि इनसे अन्य पाठकों का भी कुछ उपकार या मनोविनोद हो सके, इन्हें एकत्र संग्रहीत कर दिया गया है। इनके लिखने में मेरा दृष्टिकोण अलोचना प्रधान था अर्थात् जिस समीक्षा के द्वारा साहित्य का निगूढ अर्थ अधिक स्फुट हो सके और पाठक उसमें अन्तर निहित रस तक पहुँच सकें उस दृष्टिकोण से साहित्य की कृतियों को समझाने का प्रयास मैंने किया है और उसे ही मैं विशेष उपयोगी मानता हूं। यों तो महान् साहित्यकारों की कृतियाँ समुद्र की तरह अगाध और अनन्त हैं किन्तु प्रत्येक पाठक का मन एक कमण्डलु के समान है जो अपनी पात्रता के अनुसार उसमें से रस की प्राप्ति कर पाता है। किस प्रकार मन की इस रस ग्राहकता में वृद्धि हो सके यही आलोचना का उद्देश होता है। सच्ची आलोचना खण्डन या कुत्साह अथवा इस प्रकार अनईप्सित भावों को लेकर प्रवृत नहीं होती। मेरी दृष्टि से वही आलोचना सफल है जो पाठक के मनको नवीन उत्साह और प्रेरणा के किसी कृति के समीप उसके अध्ययनार्थ भेज सके—प्रवृत्त कर सके। आलोचना के विषय में दूसरा सत्य यह है कि सच्ची आलोचना कोरी बेसिरपैर की वाहवाही नहीं है, ऐसा कहना साहित्य का सच्चा मूल्यांकन कहा जायगा। मेरी आस्था उस आलोचना से है जिसके नियम और सिद्धान्त अनेक प्राचीन आलंकारिक आचार्यों ने शताब्दियों के पर्यालोचन और परिशीलन के अनन्तर स्थिर किये हैं और जो साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में आज भी सुरक्षित है। प्रत्येक सहृदय पाठक अर्थ और शब्द विषय में जिनसे काव्य का शरीर प्रस्तुत होता है पूर्व आचार्यों द्वारा निर्धारित साहित्य समीक्षा के नियमों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः साहित्य की आत्मा रसवान अर्थ में है। शब्द और अलकार उसके बाह्यरूप से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। जिस कृति में इन दोनों गुणों का समन्वय है वही साहित्य की श्रेष्ठ कृति होती है। उत्तम काव्य बड़े पुण्य से रचा जाता है। कालिदास एवं पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी सदृश महाकवि अर्थ और शब्द इन दोनों की दृष्टि से आदर्श हैं। उनके काव्यों की पद्धति का

अध्ययन करके दूसरे कवि और साहित्य निर्माताओं के ग्रन्थों के आलोचनात्मक अध्ययन की विधि हमें प्राप्त हो सकती है। अतएव महान कवियों की कृतियों के साथ प्रत्येक पाठक को अपना साहित्यिक परिचय अधिकाधिक विस्तृत और गम्भीर बनाना उपयोगी है। अच्छा तो यह है कि जिस किसी कवि के काव्य में हमारा मन रमे उसको हम अपना आजीवन मानसमित्र मान कर उसका सान्निध्य प्राप्त करते रहें। इस प्रकार हमारे नेत्रों में साहित्यिक अंजन से उत्तरोत्तर अधिक अर्थ देखने की शक्ति प्राप्त होती जायगी। मेरे इन निबन्धों से इस दिशा में यदि पाठकों का किंचितमात्र भी हित हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूँगा।

मेरी इच्छा थी कि मैं इस पुस्तक का प्राक्कथन विस्तार से लिखूँ किन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने और अवस्था की शिथिलता के कारण अधिक नहीं लिख सका हूँ। हाँ एक यह निवेदन करना आवश्यक है कि इसमें आधुनिक लेखकों द्वारा निर्मित कुछ साहित्य ग्रन्थों—रीति ग्रन्थों—की जो आलोचना की गई है उसमें केवल साहित्यिक दृष्टि से ही विवेचन किया गया है, विशेषतया छात्रों अथवा पाठकों के लाभार्थ ही। इसलिये यदि उनमें कोई शब्द या वाक्य उन लेखकों के विषय में अवाञ्छनीय प्रयुक्त हो गया हो तो उसके लिये सहृदय सज्जनों से मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

चापल्यमथवा बाल्य कृतावस्था प्रवर्तकम्।
तथापि कृपया सन्तः सन्तन्वन्तां शुभां दृशम्॥

—वीरराघव

बसंत पंचमी
विक्रम सं० २००७

विनीत—
कन्हैयालाल पोद्दार

विषय सूची

आधुनिक रीति ग्रन्थों पर आलोचनात्मक लेख



नाम सूची उन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों आदि की जिनका इस ग्रन्थ में मत अथवा पद्य आदि उल्लिखित है।

❀ श्री ❀

काव्य के मिश्रित भेद

अलंकार, ध्वनि, गौणव्यंग यह तीन काव्य के भेद प्रधान,
इनके अन्तर्गत होते हैं, एक एक के बहुत विधान।
गौण, प्रधान भाव रहता है जब ये होते हैं एकत्र,
उदाहरण कुछ दिखलाते हैं यह महत्व का विषय विचित्र।

काव्य के मिश्रित भेदों के विवेचन के प्रथम काव्य के प्रधान भेदों का संक्षिप्त परिचय कराना आवश्यक है। काव्य के प्रधान तीन भेद हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग और अलंकार[1]। इनमें प्रत्येक भेद के अनेक उपभेद होते हैं। काव्य रचना में प्रायः एक भेद के साथ दूसरे किसी भेद का मिश्रण (मिलाव) रहता है। वह कहीं सजातीय और कहीं विजातीय होता है। जहाँ ध्वनि के एक भेद के साथ ध्वनि के ही किसी दूसरे भेद का, और गुणीभूतव्यंग के एक भेद के साथ गुणीभूतव्यंग के किसी दूसरे भेद का एवं एक अलकार के साथ दूसरे अलंकार का मिश्रण होता है वहाँ तो सजातीय मिश्रण होता है और जहाँ ध्वनि, गुणीभूतव्यंग और अलंकार का परस्पर एक के साथ दूसरे का मिश्रण होता है, वहाँ विजातीय मिश्रण होता है। यह मिश्रण 'संकर' अथवा 'संसृष्टी' रूप से होता है, जैसाकि श्रीआनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"सगुणीभूतव्यंगैः सालंकारैः सह प्रभेदैः स्वैः,
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा"

इसके सिवाय सजातीय मिश्रण में किस विशेष नाम से और

---

१ ध्वनि, गुणीभूतव्यंग, और अलंकारों के लक्षण और उदाहरण समझने के लिये हमारा काव्यकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ देखिये।

विजातीय मिश्रण में किस विशेष नाम से व्यवहार होना चाहिये, इस विषय पर ध्वन्यालोक आदि संस्कृत के ग्रन्थों में बहुत ही गभीरता से विवेचन किया गया है, जिसके लिये तो अधिक विस्तार की आवश्यकता है अतः यहाँ दिग्दर्शन मात्र विवेचन किया जाता है।

ध्वनि के साथ ध्वनि का मिश्रण जैसे—

"अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥"

—भावानुवाद—

"यह तौ निरदोसिल रूप तिया बिनसूंध्यो मनोहर फूल नयो,
नव पल्लव है नख हू न लग्यो अनमोल है रत्न बिंध्यो न गयो।
फल पुन्न को है अखंड मनो मधु है सद वो बिन स्वाद लयो,
विधिना-मत मोहि न जानि परै तिहिं चाहत कौन के भाग दयो।"
(राजा लक्ष्मणसिंह)

शकुन्तला के अनुपम रूप लावण्य पर मुग्ध होकर राजा दुष्यन्त अपने अंतरंग मित्र माढव्य से कहता है—शकुन्तला का दोष रहित लावण्य, अनाघ्रात (बिना सूंघा हुआ) पुष्प है, नखों से अछिन्न नवीन पल्लव है, बिना बींधा हुआ अमूल्य रत्न है और अनास्वादित (किसी से अब तक न चक्खा हुआ) मधुर रस है, यही नहीं अखण्ड पुण्यों का मानो वह साक्षात् फल है, ऐसी अलौकिक सुन्दरी को हम नहीं जानते कि विधाता किस भाग्यशाली को प्रदान करेगा।

---

१ रेखांकित शब्दों के स्थान पर राजा साहिब के अनुवाद में क्रमशः "मनो कोई" "कोई रत्न किंधौ" "किधौं" और "कै" यह शब्द थे। पर संस्कृत पद्य के अनुसार ध्वनियों का मिश्रण दिखाने के लिये ऐसा परिवर्तन किया गया है।

इसमें शकुन्तला के रूप को अनाघ्रात पुष्प, नवीन पल्लव, अनबींधा रत्न और अनास्वादित रस कहा गया है, किन्तु रूप ऐसी वस्तु नहीं, जिसे पुष्प, पल्लव, रत्न एवं रस कहा जा सके अतएव यहाँ यह वाच्यार्थ असंभव होने के कारण बाधित है, इस कथन द्वारा शकुन्तला के अंगों का सुगंधित, कोमल, कान्ति युक्त और मादक होना व्यंग से सूचित किया गया है; अतः यहाँ एक तो लक्षणामूला-अविवक्षित-वाच्य ध्वनि है। इसके सिवाय यहाँ "अनाघ्रात" आदि साभिप्राय विशेषणों द्वारा परिकर अलंकार भी सिद्ध होता है, और उसके द्वारा शकुन्तला का संयोग-राहित्य होने के कारण अंगों का अक्षुण्णसौष्टव भी सूचन होता है अतः अलंकार से वस्तु ध्वनि भी है, इसके अतिरिक्त शकुन्तला विषयक दुष्यंत का पूर्वानुरागात्मक वियोग शृंगार ध्वनित होने के कारण असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है और वही प्रधान है, पूर्व निर्दिष्ट ध्वनियाँ उसी की अंगभूत हैं, यहाँ ध्वनियों का मिश्रण है।

और—

"बिंध के वासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारी दुखारे,
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसैं पद मंजुल कंज तुम्हारे,
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कौं पग धारे।"

(कवितावली रामायण)

यहाँ हास्य रस की तो ध्वनि है ही, उसके सिवा गोस्वामीजी का भगवान् श्री रघुनाथजी में भक्ति भावात्मक देवविषयक रति भाव की ध्वनि भी है, अतः यहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग ध्वनियों का मिश्रण है।

और—

"एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी,
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।"

— कुमारसंभव-६।८४

भावानुवाद—

रिषिजन की वह बात, सुनि पितु ढिग ह्वै नमित मुख,
क्रीड़ाकमलन पात, पारवती गिनवे लगी।

गिरिराज हिमाचल के सम्मुख सप्त ऋषियों के मुख से भगवान शंकर के साथ अपने विवाह की बातें सुनकर पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके क्रीड़ा-कमल की पखड़ियों को गिनने लगी।

इस पद्य का रेखांकित वाक्य जो वाच्यार्थ है, वह बोध हो जाने के बाद भगवती पार्वती की इस चेष्टा में लज्जाभाव की व्यञ्जना होती है। अतः एक तो यहाँ अर्थशक्ति उद्‌भव सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। इसके अतिरिक्त पार्वतीजी के हृदय में श्रीशंकर विषयक अभिलाषा की व्यञ्जना होती है, उसमें शृङ्गार रसात्मक असलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि भी है। अत यहाँ सलक्ष्यक्रम ध्वनि और असलक्ष्य-क्रम ध्वनि का अनुग्राह्य अनुग्राहक (अंगागीभाव) संकर है। प्रश्न होता है कि यहाँ लज्जा भाव की व्यञ्जना में भी शृङ्गार रसात्मक असलक्ष्यक्रम ध्वनि ही क्यों नहीं मानी जाती? इसका उत्तर यह है कि असलक्ष्यक्रम ध्वनि वहीं मानी जा सकती है, जहाँ विभावादि के साक्षात् कथन द्वारा तत्काल रसकी व्यञ्जना हो जाती है, किन्तु यहाँ हिमाचल के साथ सप्तऋषियों के पूर्वकथित प्रसंग के अर्थानुसंधान होने के बाद ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के पूर्वापर क्रम द्वारा लज्जाभाव की व्यञ्जना होती है। क्योंकि मुख का नीचा करना एवं कमल के पत्रों की गणना करने का कारण लज्जा के सिवा दूसरा भी हो सकता है। अत यहाँ लज्जाभाव में अर्थशक्ति उद्भव सलक्ष्यक्रम ध्वनि ही मानी जा सकती है।

ध्वनि के साथ गुणीभूतव्यंग्य का मिश्रण—

लाखागृह जरय्या छुद्म द्यूत जो रचैय्या औ
हालाहल पिवैय्या ना काहू सों जिनै गयो।

एक वस्त्रधारी त्यों ही द्रौपदकुमारी हू कों,
करवे उघारी सारी अँचत चितै गयो।
काहू की न मानी सीख कीन्हीं मनमानी सदा,
मान के धनी को अभिमान का रिते गयो।
पूछत हों गाजि-गाजि भीम हों बतावौ क्योंन,
गदाबाज आज कुरुराज वो कितै गयो।

महाभारत युद्ध में भीमसेन की इस उक्ति में अमर्ष आदि व्यभिचारी भावों द्वारा रौद्र रस की असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि व्यंजित होती है और इसके साथ ही दुर्योधन के विषय में "लाखागृह जरैय्या" आदि विशेषणों में जो उसके द्वारा दुष्टकर्मों का किया जाना व्यंग्यार्थ है वह वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होने के कारण गौण है अतः यहाँ ध्वनि की गुणीभूतव्यंग्य के साथ संकीर्णता है। इसके सिवा यहाँ "लाखागृह जरैय्या" आदि विशेषण साभिप्राय होने के कारण "परिकर अलंकार" की भी संकीर्णता है, किन्तु यहाँ रौद्ररस की व्यंजना में जो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है, वही प्रधान है और गुणीभूतव्यंग्य एवं परिकर अलंकार उसके अंग हैं।

ध्वनि के साथ अलङ्कार का मिश्रण—

"कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पस्तनतटीं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे नतु वयम्।"

इसका भावानुवाद—

करके तलसौं जु कपोलन की पतरावलि मंजु मिटाय रह्यौ,
पुनि स्वासन सौं अधरान्हु को लै सुधा-रस मोद मनाय रह्यौ।
लगि कंठ ढरावत खेदहु त्यों कुचमंडल चारु हिलाय रह्यौ;
अब रोष कियौ मनभावन तू, नहिं प्यारी हौं तोहि सुहाय रह्यौ।

यह ऐसी मानिनी नायिका के प्रति—जो अपनी हथेली पर कपोल रक्खे हुए है, जिसके अधर सूख रहे हैं, प्रस्वेद टपक रहे हैं और कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है एवं जिसका हृदय हिचकियों से उछल रहा है, नायक के वाक्य है कि प्यारी, तू ने अब क्रोध को ही अपना प्यारा(प्रियतम) बना लिया है,न कि मुझे। क्योंकि जो कार्य प्रेमपूर्वक मेरे द्वारा सपान्ति होते हैं वे कार्य अब उस (क्रोध) के द्वारा तू अपनी इच्छा पूर्वक सपादित करा रही है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि यह कपोलों पर चित्रित पत्रावली को मिटा रहा है, निस्वासो से अधर-रस पान कर रहा है, कण्ठ में लग कर (कोप में गद् गद् कण्ठ हो जाने से) प्रस्वेद छुटा रहा है और कुचों को कपित कर रहा है। यहाँ प्रियतम द्वारा सपादित किये जानेवाले कार्यों की श्लिष्ट (दो अर्थ वाले) शब्दों द्वारा क्रोध में समानता वर्णन की जाने में श्लेष अलङ्कार है। तथा क्रोध में प्रियतम का आरोप किये जाने में "रूपक" भी है। और अब तुझे मुझ से अधिक प्रिय क्रोध है, इस कथन में व्यतिरेक भी है। इनके सयोग से वियोग शृङ्गार के चमत्कार की वृद्धि हुई है। अतएव ये अलङ्कार प्रधान न रह कर यहाँ वियोगशृङ्गार के अङ्ग हो गये हैं। यहाँ वियोगशृङ्गारात्मक असलक्ष्यक्रम व्यग ध्वनि और अलङ्कारों का मिश्रण है।

और देखिए —

> रक्तमना[1] मृगराज-वधू दशनच्छत[2] कैन्ह अतत प्रमोदित,
> त्यो नख तें जु विदारन ह्वै प्रगटे व्रन[3] तो-तन में जित ही तित।
> मोद समात न गात मनो पुलकावलि के मिस है वह सोमित,
> देखिके तोहि स रक्त[4] सरे, मुनिराज विरक्त हु डाह दरें चित।

१—रुधिर मे मन जिसका (श्लेपार्थ अनुरक्त मना)

२—सिंहिनी द्वारा दाँता से किये गये घाव (श्लेपार्थ अनुरक्ता नायिका द्वारा किये गये दतक्षत)

३—सिंहनी द्वारा किये गये घाव (श्लेपार्थ नायिका द्वारा किये गये नख-क्षत)।

४—रुधिर युक्त (श्लेषार्थ अनुरक्त)।

क्षुधित सिंहनी को दया-वश अपना शरीर भक्षण कराते हुए बौद्ध के प्रति किसी चाटुकारी की उक्ति है। यहाँ बौद्ध और सिंहिनी का वृत्तान्त प्रसंग-गत होने के कारण प्रस्तुत है और नायक-नायिका का वृत्तान्त अप्रस्तुत है अतः प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत को बोध कराये जाने में समासोक्ति अलङ्कार है। एवं नायक-नायिका की इस शृङ्गारिक चेष्टाओं को देखकर (प्राकरणिक अर्थ में बौद्ध की इस दयार्द्र चेष्टा को देख कर) विरक्त मुनिराजों को अभिलाषा उत्पन्न होने में 'विरोधाभास' अलङ्कार है। और तीसरे चरण में सापन्हव उत्प्रेक्षा भी है। इन अलङ्कारों के अतिरिक्त यहाँ उत्साह स्थायी भाव का हर्षादि संचारि एवं पुलक आदि अनुभावों द्वारा धर्म-वीर रस की व्यञ्जना होती है। अतएव यहाँ अलङ्कार और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि की संकीर्णता है।

"दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।"

—मेघदूत

भावानुवाद—

चेतोहारी ध्वनि मद-भरी सारसों की बढ़ाके,
प्रातः फूले कमल-रज की गन्ध को भी उड़ाके—
शिप्रा-वायु प्रिय-इव जहाँ प्रार्थना से रिझाता,
कान्ताओंका श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता।

इस पद्य में उज्जयनी के अन्तर्गत बहने वाली शिप्रा नदी के प्रातः कालीन धीर-समीर का वर्णन है—उज्जयनी में प्रभात के समय कमलों के सौरभ से सुगन्धित शिप्रा-नदी का शीतल मन्द पवन प्रियतम के सदृश प्रार्थना में चातुर्य दिखलाता हुआ अर्थात् जिस प्रकार प्रियतम मृद भरे मधुर शब्दों, सुगन्धित द्रव्यों और अङ्गों के मृदुल स्पर्श (हस्त-संवाहन आदि) से रमणियों का रति-जनितश्रम

दूर करता है उसी प्रकार शिप्रा का पवन भी तट पर बैठे सारस पक्षियों के मद पूरित कामोद्दीपक शब्दों को बढ़ाता हुआ, प्रफुल्लित कमलों के पराग मे मिली गन्ध को फैलाता हुआ उन रमणियों का सुरत श्रम दूर करता है। यहाँ 'प्रियतम इव' वाक्य द्वारा उपमा अलंकार है[1]। इसके अतिरिक्त यहाँ शिप्रा के पवन को 'स्फुटित कमलामोदमैत्रीकषाय.' अर्थात् प्रफुल्लित कमलों के सौरभ का मित्र कहा गया है, किन्तु कमल अचेतन है और मित्रता चेतन का धर्म है, अत कमलों के सौरभ के साथ पवन की मित्रता होना असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ—'मित्रता' का बाध है, लक्षणा द्वारा मित्रता का लक्ष्यार्थ—'कमल के सौरभ मे सयुक्त पवन' ग्रहण किया जाता है, इसलिए यहाँ लक्षणामूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि भी है और 'उपमा' अलंकार भी है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। और ये दोनों निरपेक्ष हैं—इनकी अलग अलग स्थिति है, अतः यहाँ ध्वनि और अलंकार

---

१ मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ का मत तो यह है कि यहाँ 'प्रियतम इव' प्रियतम के समान प्रयोग द्वारा स्थूल दृष्टि से उपमा अलंकार की प्रतीति होने पर भी यहाँ उपमा नहीं, क्योंकि यहाँ यदि खण्डिता नायिका के प्रति प्रियतम द्वारा चाटुकारी मानी जाय तो खण्डिता नायिका तो रतिसुख से वञ्चित रहती है, फिर उसके रति-जनित ग्लानि (श्रम) का होना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? यदि सभोग शृंगार का प्रसग माना जाय तो सम्भोग के पश्चात् चाटुकारितामय प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं, अतएव मल्लिनाथजी ने 'प्रार्थना चाटुकारी' पद को उपमा का बाधक (प्रतिकूल) मानकर उपमा अलंकार न मानकर 'उत्प्रेक्षा' अलंकार माना है किन्तु हमारे विचार में 'प्रार्थना चाटुकारी' पद को जो उपमा का बाधक बताया गया है, उपमा का बाधक नहीं है। हाँ, खण्डिता नायिका को तो सुरत का श्रम होना असम्भव अवश्य है, किन्तु सम्भोग शृंगार में सभोग के पश्चात् पुनः सम्भोग के लिए नायिका को उत्सुक करने के निमित्त उसका सुरत श्रम दूर करने के लिए प्रार्थना चाटुकारी आवश्यक ही है, फिर यहाँ उपमा वृथा नहीं मानी जा सकती।

की संसृष्टि है—ध्वनि और अलंकार की एक प्रकार की संकीर्णता (मिलाव) है और शृङ्गार रस की व्यञ्जना होने के कारण यहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का संमिश्रण है।

और देखिये—

"प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या: ।
तया गृहीतं नु मृगांगनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगांगनाभिः ।"

—कुमारसंभव २।४६

भावानुवाद—

पवन-प्रकंपित कमल सम चपल चितौन विलास।
सीखे इन हरिनीनसौं कै हिरनिन इहिं पास ॥

महाकवि कालिदास ने इसमें पवन द्वारा प्रकंपित कमल के समान भगवती पार्वतीजी के चपल कटाक्षों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि कहता है कि कटाक्षों की यह सौन्दर्य-कला भगवती पार्वती ने मृगाङ्गनाओं से सीखी है या मृगाङ्गनाओं ने पार्वतीजी से सीखी है ? इस पद्य के उत्तरार्द्ध में 'सन्देह' अलंकार है। और साथ ही इसके व्यंग्यार्थ में पार्वतीजी के और मृगांगनाओं के कटाक्षों की समता की व्यञ्जना होने के कारण 'व्यंग्योपमा' भी है। किन्तु यहाँ 'व्यंग्योपमा' प्रधान नहीं, किन्तु 'सन्देह' अलंकार की सहायकमात्र अंग है। अतः यहां 'सन्देह' अलंकार ही प्रधान है। इसके सिवा यदि "नु" के प्रयोग के कारण उत्प्रेक्षा मानी जाय तो संदेह और 'उत्प्रेक्षा' अलंकारात्मक 'सन्देहसंकर' अलंकार भी माना जा सकता है।

व्है अधीन जड़ विरुद के करत न गुन पहिचान।
द्रवत न मुख-ससि लखि,द्रवत ससि लखि चन्द्र-पखान ॥

यहाँ, 'जड़ जन विरुद (प्रसिद्धि) के अधीन हो जाते हैं, गुण को नहीं पहचानते'। इस सामान्य बात का पद्य के उत्तरार्द्ध में इस विशेष बात से समर्थन किया गया है कि चन्द्रपाषाण (चन्द्र-कान्तमणि) चन्द्रमा को देखकर तो द्रवित होता है—टपकने लग

जाता है, किन्तु कामिनी के मुख चन्द्र को (जो वस्तुत: चन्द्रमा से कहीं अधिक आल्हादक है) देख कर द्रवित नहीं होता। अतः यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। और व्यंग्यार्थ में उपमान चन्द्रमा से उपमेय-कामिनी के मुखचन्द्र के आधिक्य की ध्वनि निकलती है। अतः व्यंग्यार्थ में 'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि है। किन्तु ऐसे वर्णनों में इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में किस अलंकार की प्रधानता है और किस अलंकार के नाम से व्यवहार होना चाहिये। यह 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' का एक भेद है, जिसमें वाच्यार्थ के एक अलंकार द्वारा व्यंग्यार्थ में दूसरे अलंकार की ध्वनि निकलती है।

और देखिये—

"कुंद कहाँ पयवृंद कहाँ अरु चंद कहाँ सरजा जस आगे,
"भूषन" भानु कृसानु कहाँ ब खुमान प्रताप महीतल पागे।
राम कहाँ द्विजराम कहाँ बलराम कहाँ रन मे अनुरागे,
बाज कहाँ मृगराज कहाँ अति साहस में सिवराज के आगे।"

इसमें उपमेय-शिवाजी के यश आदि की तुलना में उपमान कुंद के पुष्प की श्वेतता आदि का निरादर किया जाने में प्रतीप अलंकार है, और भूषण कवि द्वारा शिवाजी की प्रशंसा की जाने में राज-विषयिक 'रति' भाव अर्थात् असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि भी है, अत यहाँ अलंकार और ध्वनि का मिश्रण है, इस वर्णन में श्री रामदहिनजी मिश्र का कहना है—

"शिवराज को एक साथ ही बाज और मृगराज कह डालना उपहासास्पद है, एक ही व्यक्ति मृगराज होते हुए बाज भी बने तो उसकी हीनता ही द्योतित होगी।"-(काव्य में अप्रस्तुत योजना' पृ० १६६)

हमारे विचार में तो जिस प्रकार प्रथम के तीनों चरणों में उपमेय शिवाजी के यश की तुलना में कुन्द के पुष्प की श्वेतता आदि उपमानों का निरादर किया गया है, उसी प्रकार चौथे चरण में बाज और मृगराज का साहस उपमान है और शिवाजी का साहस उप-

मेय, क्योंकि शिवाजी के साहस की तुलना में बाज़ और मृगराज के साहस का ही निरादर किया गया है, अतः यहाँ शिवाजी की हीनता द्योतित होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है।

गुणीभूतव्यंग्य और अलंकार की संकीर्णता—

"और हिं कुन्द कलीं अली देत गुहे बिन पांत सुजानन लागी,
औरहिं कोमल विद्रुम-पल्लव ओठिन सों ठगि मानन लागी,
'बेनीप्रवीन' मृनाल बिना दृग औरहिं कौल वखानन लागी,
आवत ही सिखई गुरु-जोवन ये उपमा उर आवन लागी।"

यहाँ 'सिखई गुरु-जोवन' का मुख्यार्थ 'यौवन द्वारा शिक्षा दिया जाना' है, शिक्षा देने का कार्य चेतन व्यक्ति का है अतः अचेतन यौवन द्वारा शिक्षा का कार्य असंभव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है—मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है। अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। 'यौवन के आने से अंगों में स्वतः लावण्य का विकाश हो जाना व्यंग्यार्थ है वह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट होने के कारण यहाँ अगूढ़गुणीभूतव्यंग्य है। इसके सिवा इसमें ताद्रूप्य रूपक अलंकार भी है अतः यहा इन दोनों की संकीर्णता है।

एक अलङ्कार से दूसरे अलंकार की संकीर्णता—

जहाँ एक पद्य में एक से अधिक अलङ्कारों की प्रतीति होती है। वहाँ किस अलंकार के नाम से व्यवहार होना चाहिये, इसका निर्णय कहीं तो साधक[1] और बाधक[2] द्वारा, कहीं 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति[3]' न्याय द्वारा अर्थात् किस अलंकार की प्रधानता है इस

१—'साधक' का अर्थ है किसी अलंकार के स्वीकार करने में अनुकूलता होना।

२—'बाधक' का अर्थ है किसी अलङ्कार के स्वीकार करने में प्रतिकूलता होना।

३—जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ उसी के नाम से व्यवहार किया जाना।

आधार पर, और कहीं प्रसङ्ग (प्रकरण) आदि अन्य परिस्थिति के कारण हुआ करता है—

"लावण्यद्रविणव्ययो न गणित क्लेशो महान् स्वीकृत',
स्वच्छन्दस्य सखीजनस्य वसतश्चिन्ताज्वरों निर्मित ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनु तन्वता ।"

भावानुवाद—

गिना नहीं लावण्य द्रव्य व्यय श्रम भी स्वीकृत किया महान,
सखीजनों के मृदुल हृदय मे चिन्ताज्वर का किया विधान।
इस वेचारी को भी कोया योग्य-रमण-सुख भी न प्रदान,
हा ! क्या लाभ समझ विधिने फिर इस रमणी को की निर्माण।

यहाँ वक्ता कहता है हम नहीं समझते कि इस अनुपम सौन्दर्यशालिनी रमणी की रचना विधाता ने किस प्रयोजन के लिए की है। न तो उसने यह विचार किया कि मैं अपने कोष (खजाने) से इसकी रचना के लिए क्यों इतने लावण्य रूपी द्रव्य का खर्च कर रहा हूँ, न इस बात पर ही कुछ ध्यान दिया कि इसके निर्माण में इतना महान् कष्ट क्यों उठा रहा हूँ, न यही लक्ष्य किया कि इस रमणी की ऐसी अलौकिक रचना करके इसके रूप लावण्य पर स्पर्धा करने वाली या इसके सन्ताप मे सतापित होने वाली वेचारी सखीजनों के चिन्ता रूपी ज्वर को मैं क्यों बढा रहा हूँ, और तो और, विधाताने इस सुन्दरी को ही यदि इसके योग्य समान-गुण शील वाले प्रियतम का सयोग सुख प्रदान कर सुखी बनादी होती, तो उसका किया हुआ इतना परिश्रम सफल समझा जाता, पर खेद तो यह है कि इसे सयोग-सुख का भी अभाव होने के कारण वेचारी यह रमणी भी मृतप्राय है। अत. विधाता का यह कार्य सर्वथा निष्प्रयोजनीय होने के कारण अविचार पूर्ण है।

इस पद्य के उपर्युक्त व्याख्यार्थ में की गई विधाता की निन्दा द्वारा अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी उस रमणी के रूप-लावण्य की स्तुति

की गई है। ऐसा समझकर यहां कुछ विद्वान् 'व्याजस्तुति' अलंकार बतलाते हैं, किंतु प्रथम तो पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार व्याज-स्तुति अलंकार वहीं माना जासकता है जहां जिस व्यक्ति की स्तुति या निन्दा की जाय, उसी व्यक्ति की स्तुति के बहाने निन्दा या निन्दा के बहाने स्तुति की जाय। किन्तु यहां जब विधाता की निन्दा के बहाने रमणी के रूप लावण्य की स्तुति की गई है, तो यहां व्याजस्तुति नहीं, मानी जा सकती। फिर यदि पंडितराज के इस मत को न भी माना जाय तो भी व्याजस्तुति अलंकार तभी संभव हो सकता है, जब इस पद्य में जो कहा गया है, उसका कहने वाला-वक्ता या तो उस रमणी पर अनुरक्त व्यक्ति हो या विरक्त, पर वक्ता न तो यहां उस रमणी पर अनुरक्त व्यक्ति ही है क्योंकि अनुरक्त व्यक्ति द्वारा—'तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता' (अपने योग्य प्रेमी न मिलने से यह बेचारी मृत प्राय है) ऐसा कहा जाना संभव नहीं होसकता और न किसी वीतराग-विरक्त द्वारा ही ऐसा कथन संभव हो सकता है--विषय-विरक्त व्यक्ति द्वारा किसी कामिनी के सौन्दर्य के विषय में इस प्रकार आलोचना किया जाना सर्वथा असंभव है। अतएव, यह बात व्याजस्तुति अलंकार की बाधक है-प्रतिकूल है इसके अतिरिक्त यह पद्य किसी प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत होता तो पूर्वापर प्रसङ्ग द्वारा निन्दा में स्तुति की जाने की संगति बैठ भी सकती थी, पर यह पद्य महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में 'न्यायविन्दु' प्रणेता बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति के नाम से उद्धृत किया है, जो अपने आपको असमान्य विद्वान् समझता था। अतः इस पद्य में 'व्याजस्तुति' अलङ्कार नहीं। धर्मकीर्ति के इसी शैली के और भी मुक्तक पद्य प्रसिद्ध हैं[1]। अतः इस पद्य में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है; क्योंकि इस पद्य का वक्ता ऐसा व्यक्ति है, जो किसी को भी अपने समकक्ष विद्वान नहीं समझता था, एवं अपनी विद्वत्ता के महान उत्कर्ष से अन्य विद्वानों में मत्सरता का

---

१ देखिए, ध्वन्यालोक—

'अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना।'......इत्यादि

सन्ताप भी उत्पन्न कर रहा था। धर्मकीर्ति ने इस पद्य के वाच्यार्थ में जो रमणी के सौन्दर्य का वर्णन किया है वह अप्रस्तुत है, वस्तुतः इस अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा उसने उस रमणी के समान अपनी परिस्थिति के विषय में यह खेद प्रकट किया है कि "मुझे अपने समकक्ष ऐसा कोई विद्वान् ही नहीं मिला, जिसके साथ शास्त्रार्थ करके अपना पाण्डित्य प्रकट कर सकूँ" यह प्रस्तुत है। इस प्रस्तुत का कथन न करके अप्रस्तुत-रमणी की दशा का कथन किया जाने से यहा अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार ही है। और देखिये—

"करत बतकही अनुजसन मन सिय रूप लुभान।
मुख सरोज-मकरद छवि करत मधुप इव पान।"

—रामचरित मानस

यहाँ 'मुख सरोज मकरद छवि' में श्री जनकनन्दिनी के मुख की छवि (शोभा) को कमल की मकरद और श्री रघुनाथजी को (अथवा उनके मनको) मधुप कहा गया है। अतः मकरद छवि में रूपक और उपमा (वाचकधर्मलुप्तोपमा) दोनों अलकारो की प्रतीति होती है। पर यहाँ रूपक ही माना जा सकता है, न कि उपमा। क्योंकि जहा उपमान के धर्म की प्रधानता होती है, वहा रूपक होता है और जहा उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है वहा उपमा होती है। यहा 'मुख-छवि' उपमेय है और मकरद (पुष्पों का रस) उपमान। उपमेय मुख की छवि ऐसी वस्तु नहीं, जिसका पान किया जा सके, किन्तु उपमान मकरद का पान भौंरे के द्वारा किया जाना सभव है। अत• 'करत मधुप इव पान' पद में जो उपमा है वह मकरद-छवि पद में उपमा का बाधक होने के कारण उपमा नहीं मानी जा सकती अत यहा रूपक ही माना जा सकता है मकरद छवि में जो उपमा है वह रूपक की सहायक मात्र है। और—

बन सों आवत सखन सँग करत विनोद विलास।
गो-रज अलकन पै लसत आननचँद सहास॥

यहाँ 'आननचन्द्सहास' में वाचक-लुप्तोपमा और रूपक

दोनों की प्रतीति होती है, मुख उपमेय है और कंज (कमल) उपमान। मुख और कमल में अभेद मानकर जब 'कमल रूप मुख' अर्थ किया जाय तभी रूपक बन सकता है। पर, यहाँ मुख-चन्द 'सहास' (हास-युत) कहा गया है; चन्द्रमा में हास्य का होना असम्भव होने के कारण 'सहास' पद रूपक का बाधक है—रूपक के प्रतिकूल है, अतएव यहाँ रूपक नहीं बन सकता किन्तु 'चन्द्र के समान मुख'—इस प्रकार उपमा ही बन सकती है। क्योंकि 'हास्य' मुख-उपमेय का धर्म है, और उपमा में उपमेय के धर्म के अनुकूल वर्णन होता है।

और देखिए—

अमरीकवरी भार-गत भ्रमरिन मुखरित मंजु।
दूर करहु मेरे दुरित श्री गौरी-पद कंजु॥

अर्थ—'जिनके केश कलाप में गुंथे हुए सुगन्धित फूलों पर भ्रमराङ्गनायें मंडरा रही हैं, ऐसी प्रणाम करती हुई देवाङ्गनाओं द्वारा मुखरित (शब्दायमान) किये गए भगवती गौरी के पदकंज मेरे सारे पापों का विनाश करें'। यहाँ 'पद-कंज' पद में 'रूपक' और लुप्तो-पमा दोनों अलङ्कारों की प्रतीति होती हैं, पर यहाँ न रूपक माना जा सकता है और न लुप्तोपमा ही; क्योंकि रूपक तो इसलिए नहीं बन सकता कि रूपक में उपमान के अनुकूल धर्म का वर्णन होता है पर केवल उपमान-कमल में पाप नष्ट करने की शक्ति नहीं, अतः 'दूरकरहु मेरे दुरित' पद रूपक का बाधक है और उपमा यहाँ इसलिए नहीं बन सकती कि उपमा में उपमेय के अनुकूल धर्म का वर्णन होना आवश्यक है, किन्तु यहाँ केवल गौरी के चरणों का भृङ्गागनाओं द्वारा शब्दायमान किया जाना संभव नहीं, अतः यहाँ 'रूपक' या उपमा न होकर 'परिणाम' अलंकार है, क्योंकि जब उपमान-'कंज' उपमेय 'गौरीपद' के रूप में परिणत हो जाता है—एक रूप हो जाता है, तभी पापों के नष्ट करने की शक्ति उसमें संभव हो सकती है। अतः 'दूर करहु मेरे दुरित' पद 'परिणाम' अलङ्कार का साधक है—अनुकूल है।

यहाँ तक साधक और बाधक द्वारा एक अलंकार का निर्णय किस प्रकार होता है—उसका दिग्दर्शन कराया गया है। अब 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार अलकारों के निर्णय के विषय में कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

'अनुरागवती सध्या दिवसस्तत्पुर. सर ।
अहो दैवगती कीदृग् तथापि न समागम ।

भाषानुवाद—

अनुरागिनि सन्ध्या र है द्याउ पुरस्सर आतु
विधि गति अतिहि विचित्र है तऊन समागम पातु।

इसमें प्रात कालीन सध्या (उषाकाल) के दृश्य का वर्णन है—उस दृश्य का जब कि व्यतीत होने वाली रात्रि के उषाकाल में आकाश अरुणप्रभायुक्त हो जाता है। कवि कहता है कि प्रात सध्या अनुरागिणी है (अनुरक्ता श्लेषार्थ रक्तवर्णा) है और दिन भी उसके सम्मुख है, तथापि उनका समागम (मिलना) नहीं होता, विधाता की गति विचित्र है।

यहाँ प्रात'कालीन सध्या का वर्णन प्रसग प्राप्त होने के कारण प्रस्तुत है। उसके द्वारा यहाँ परस्पर में अनुरक्त नायक नायिका की दशा की भी प्रतीति कराना कवि को अभीष्ट है, जो प्रसङ्ग प्राप्त न होने के कारण अप्रस्तुत है अत. प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति होने में यहाँ समासोक्ति अलकार है। और परस्पर में अनुरक्त नायक-नायिका के सम्मुख होने रूप कारण के रहते हुए भी उनका समागम होने रूप कार्य के न होने में विशेषोक्ति अलकार की स्थिति भी है। किन्तु यहाँ समासोक्ति प्रधान नहीं, विशेषोक्ति ही प्रधान है, क्योंकि समासोक्ति का बोध तो प्रसग पर विचार करने पर विलम्ब से हो सकता है, उसके प्रथम ही कारण के होते हुए कार्य के न होने का अर्थ-बोध तत्काल हो जाता है अत यहाँ 'प्रधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार विशेषोक्ति का चमत्कार ही प्रधान होने के कारण विशेषोक्ति ही मानी जा सकती है। यद्यपि ध्वनिकार

एवं आचार्य मम्मट ने इस पद्य में समासोक्ति बतलाई है, और तदनुसार इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपने काव्यकल्पद्रुम में समासोक्ति ही माना है। किन्तु, वहाँ व्यंग्य और श्लेष के विषय-विभाजन के प्रसंग में ऐसा माना गया है और यहां मिश्रित अलंकारों की प्रधानता के विषय में इस पद्य में विशेषोक्ति की प्रधानता बतलाई गई है। अतः पूर्वापर विरोध नहीं।

और—

"रहति सदाई हरिआई हिय घायन में,
ऊरध उसास सों झकोर पुरवा की है।
पीव पीव गोपी पीरपूरित पुकारत हैं,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नयननि सौं नीर झरी और उठै,
चित्त में चमंक सो चमंक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रजमण्डल में,
ऊधो नित बसत बहार बरसा की है।

यहाँ घनस्याम (मेघ) के बिना वर्षा का होना कहा गया है, अर्थात् कारण के बिना कार्य का होना कहा गया है, अतः विभावना अलंकार है। यद्यपि यहाँ उच्छ्वासों में पुरवा के पवन का, गोपी जनों की पी-पी की ध्वनि में पपीहा के शब्दों का, अश्रु-धाराओं में वर्षा की धाराओं का और चित्त की चमक में बिजली की चमक का आरोप किया जाने में 'रूपक' है। और हृदय के घावों में हरियाली का एवं वियोगिनी-गोपीजनों की तादृश अवस्था में वर्षा ऋतु की सामग्री का अध्यवसाय किया जाने के कारण 'रूपकातिशयोक्ति' की स्थिति भी है। इसके सिवा श्याममेघ और श्री कृष्ण के लिये 'घनश्याम' शब्द के प्रयोग में श्लेष अलंकार भी है। परन्तु ये तीनों ही (रूपक, अतिशयोक्ति और श्लेष) यहाँ विभावना अलंकार के सहायक होने के कारण विभावना के अङ्ग-भूत हैं, प्रधानतया उत्कट चमत्कार यहाँ विभावना अलंकार में ही है। अतः यहाँ 'विभावना' अलंकार ही मानना उचित है।

और—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृंगारैकरस स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।"

भावानुवाद—

रचना इसकी मनमोहक में, कि कलानिधि चन्द्र प्रजापति है ।
कुसुमाकर ही सुखमाकर ? या कुसुमायुध ही रति का पति है ।
विधि वृद्ध विरक्त हुआ जिसकी अब वेद-विचार-रता मति है ।
इस रूप अलौकिक की कृति में न समर्थ कहाँ उसकी गति है ।।

महाकवि कालिदास-प्रणीत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हुआ राजा पुरुरवा कहता है—इस सुन्दरी की रचना करने में प्रजापति अर्थात् इसकी रचना करने वाला क्या कान्ति-प्रद चन्द्रमा था ? किम्वा, शृङ्गार रस का प्रधान स्वयं कामदेव ही इसका रचयिता था ? अथवा, पुष्पाकर (वसन्त ऋतु) ने ही इसकी रचना की है ? मैं विधाता को इसका निर्माता इसलिए नहीं समझता हूँ कि वेदों के अभ्यास से उनकी बुद्धि जड़ होगई है, अतः कामिनी जनों के विलास से वे विरक्त हैं, वे अत्यन्त वृद्ध भी होगये हैं, ऐसी अलौकिक सुन्दर रचना वे किस प्रकार कर सकते हैं ।

इस पद्य में उर्वशी के निर्माताओं के विषय में सन्देह होने के कारण 'सन्देह' अलंकार है । इसके अतिरिक्त चौथे चरण में इस बात की पुष्टि की गई है कि निर्माण कर्ता विधातानहीं है (यद्यपि वही निर्माण करता है) अर्थात् सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कहा गया है, अत 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार की स्थिति भी है । 'साहित्य-दर्पण' में यह पद्य सम्बन्धातिशयोक्ति के उदाहरण में है । विचारणीय यह है, कि यहा सन्देह और अतिशयोक्ति दोनों में अधिक चमत्कार

किसका है। जहाँ तक विचार किया जाता है। इस पद्य के पढ़ने और सुनने पर संदेह-वाचक 'नु' के कई बार प्रयोग किये जाने के कारण सन्देह का चमत्कार तत्काल ही प्रधानतया लक्ष्य में आता है—वह मननशील सहृदय पाठकों के चित्त में शीघ्र ही स्थान ग्रहण कर लेता है और उन्हें अतिशयोक्ति पर विचार करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। यदि विलम्ब से अतिशयोक्ति की प्रतीति होती भी है, तो वह 'सन्देह' के चमत्कार को छुपाने में असमर्थ है। फलतः यहाँ प्रधान चमत्कार के कारण 'सन्देह' अलंकार ही मानना युक्ति युक्त है। यही आचार्य मम्मट का मत है। श्री विश्वनाथ ने इस पद्य को 'अतिशयोक्ति' के उदाहरण में रखकर अप्रकट रूपमें आचार्य मम्मट के मत का खण्डन किया है। किन्तु "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के विपरीत चेष्टा करने के कारण श्री विश्वनाथ स्वयं आलोचना के विषय हो गये हैं। और भी देखिए—

"सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वंभराधीश्वर-
व्यादीर्णाकृत मध्यभागविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन् सद्यो जगन्मण्डलम्,
मार्तण्डोयमुदेति केन पिशुना लोके शशाङ्कीकृतः।"

भावानुवाद—

रण-संमुख-हत-नृप-गण द्वारा मध्य-भाग व्यादीर्णमहा,
उसी छिद्र से दीख रही है नभकी नीली-झलक वहाँ।
प्रखर रश्मि से सारे जग में ताप कर रहा है न किसे,
मारतंड यह उदित, किन्तु पशु कहते हैं शशअंक इसे।

चन्द्रमा को देख कर किसी वियोगी की उक्ति है। युद्ध में हत होकर जो राजा लोग सूर्य मण्डल को भेदकर स्वर्ग गये हैं, उनके द्वारा सूर्य के मध्य भाग में किये गये छिद्र से यह आकाश की

नीलिमा प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है और उस छिद्र में से यह सूर्य अँगारों के समान अपनी प्रखर किरणों से सारे संसार को भस्म कर रहा है। अत: यह सूर्य है, किसी मूर्ख ने ही इसे चन्द्रमा बतला दिया है।

यहाँ "यह चन्द्रमा नहीं, किन्तु रण में मारे गये राजाओं के स्वर्ग को गमन करते समय आकाश में जो छिद्र हो गया है, उस छिद्र में से दिखाई दे रहा सूर्य है"। इस प्रकार उपमेय-चन्द्रमा का निषेध कर उपमान-सूर्य का आरोप किया गया है, अत: अपन्हुति अलंकार की स्थिति है। किन्तु रसगङ्गाधरकार का कहना है "यहाँ अपन्हुति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अपह्नुति में आरोप आहार्य होता है—कल्पित निश्चय होता है, यहां इस पद्य में वक्ता वियोगी है, वह जान बूझ कर चन्द्रमा में सूर्य का आरोप नहीं कर रहा है,-उसे तो विरहावस्था में सन्ताप के कारण चन्द्रमा में सूर्य का भ्रम हो रहा है, अत: यहाँ भ्रांतिमान् अलंकार है"। पण्डितराज का यह मत चिंत्य है, क्योंकि प्रथम तो अपह्नुति में ही क्यों, भ्रांतिमान् में भी तो कल्पित भ्रांति होती है,—वास्तव भ्रांति में 'भ्रांतिमान्' भी नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि भ्रांतिमान् अलंकार में उपमेय का निषेध नहीं होता, किन्तु यहां तो वक्ता ने—"मार्तण्डोयमुदेति केन पिशुना लोके शशाङ्कीकृत:" इस वाक्य में उपमेय—चन्द्रमा का निषेध करके उसे सूर्य बतलाया है, अतएव स्पष्ट ही अपह्नुति का चमत्कार है।

और देखिये—

> "राजन्राजसुता न पाठयति मां देव्योपि तूष्णीं स्थिता,
> कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते,
> इत्थंनाथ शुकस्तवारिभवने मुक्तोध्वगैः पंजरात्
> चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाष्यते।"

भावानुवाद—

> राजसुता न पढाती मुझे नृप, देवियाँ मौन दिखाती हैं क्या,
> भोजन क्या करते न कुमार, खुगा कुब्जे! नहीं डालती क्यों,

शून्य हुये अरि-मन्दिर में अब पिंजर से छुटजाती हैं जो—
जाके वहाँ प्रति चित्र समीप वे सारिका वाक्य सुनाती हैं यों।

किसी राजा के प्रति यह कवि की उक्ति है—स्वामिन्, आपके आक्रमण के भय से भागे हुये आपके शत्रु-राजाओं के शून्य भवनों की अब यह दशा है कि पथिक जन जब उन भवनों से पालतू शुक सारिकाओं को पींजरे से निकाल देते हैं, तो वे पक्षी भवनों के ऊपर वाली चन्द्रशालाओं में चित्रित कला पूर्ण प्रत्येक चित्र के समीप जाकर बोलते हैं कि हे राजन्, राजकुमारी आज मुझे क्यों नहीं पढाती है ? महारानियाँ भी चुप बैठी हुई हैं, अरी कुबजे, मुझे चुगा तो डाल; राजकुमार, तम अपने समवयस्कों के साथ अब तक क्यों नहीं भोजन करते ?

यहां शत्रु राजाओं का राजा के डर से भाग जाना कारण है, और उनके भवनों का सूना हो जाना कार्य है, अतः आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस पद्य को कार्यनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में रक्खा है। उनका कहना है कि कवि को यहां राजा के आक्रमण के भयसे शत्रुओं का अपने भवन छोड़कर भाग जाना वर्णन करना अभीष्ट है। अतः वर्णनीय होने से वही प्रस्तुत है, उसे न कह कर भवनों का सूना हो जाना जो अप्रस्तुत है, कहा गया है। मम्मट के परवर्ती आचार्य रुय्यक ने अपने "अलंकारसर्वस्व" में इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि अप्रस्तुत प्रशंसा यहाँ तभी मानी जा सकती है जब वाक्यार्थ में कहा गया 'शत्रु राजाओं के भवनों का सूना होना' अप्रस्तुत होता। यहां तो वह भी वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत है, क्योंकि वर्णनीय राजा के भय से शत्रुओं के भाग जाने का कथन करना भी कवि को अभीष्ट है। अतः दोनों ही प्रस्तुत हैं—दोनों ही में समान चमत्कार है। यहां अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं, किन्तु "पर्यायोक्ति" अलंकार है।

ऐसे महान् आचार्यो के विवाद में हस्तक्षेप करना अनधिकार

चेष्टा होने पर भी "तदपि कहे बिन रहा न कोऊ" इस उक्ति के अनुसार हमारे विचार में यदि अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरणों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत पर इस प्रकार विचार किया जायगा तो अप्रस्तुत प्रशंसा के प्रायः सभी उदाहरणों में पर्यायोक्ति का अधिकार होजायगा—इन दोनों के विषय-विवेचन में बडी कठिनाई उपस्थित हो जायगी, क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा के वर्णन में जो अप्रस्तुत का वर्णन होता है वह भी चमत्कारक ही होता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, स्वयं रुय्यक ने ही अलंकारसर्वस्व में कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा का—

"इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदल श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलयामि कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिना बर्हा सगर्हा इव ॥"

भावानुवाद—

अंजन सों लिप्यौ चंद लसै यह मे हिरनीन कटाच्छ लजावै,
विद्रुम की दुति फीकी लगै अरु नीकी न हेमप्रभा दरसावै।
कोकिल-कंठ-धुनीहू कठोर सी श्रोनन कौ सुनिवौ न सुहावै,
मैथिली की छवि आगे अहो इन केकिन के हू कलाप लजावै।

यह उदाहरण दिया है। इसमें कहा गया है कि भगवती सीता की अंग-शोभा के सम्मुख चन्द्रमा अंजन से लीपा हुआ सा (गत-प्रभा) जान पड़ता है, मृगांगनाओं की दृष्टी जड़ता को प्राप्त हुई सी जान पड़ती है, विद्रुम की अरुणिमा मलिन हुई सी प्रतीत होती है, सुवर्ण की कान्ती काली पडी हुई सी दीख पडती है, कोकिलाओं का कंठ स्वर कर्कश मालूम होता है और मयूरों का पिच्छभार घृणित सा दिखाई देता है।

यहां भगवती सीता का उत्कर्ष अभीष्ट है, अतः यहीं

प्रस्तुत है, यह जो कारण है उसे न कहकर, वाच्यार्थ में उनके अंग-सौंदर्य (मुख, नेत्र, अधर, अंगकांति, वाणी और केश-कलाप) के सामने चन्द्रमा आदि का निष्प्रभ होना कहागया है— जो कि कार्य है। यहां रुय्यक ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार माना है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इसके वाच्यार्थ में क्या कुछ कम चमत्कार है, फिर यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा क्यों मानी जा सकती है ? इस पद्य में भी पर्यायोक्ति ही क्यों न मानीजाय ? ऐसी परिस्थिति में यदि आचार्य रुय्यक इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा मानते हैं तो उपर्युक्त "राजन् राजसुता न पाठयति मां" पद्य में भी अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानाजाना अनिवार्य होगा। अतएव रुय्यक के "अलंकारसर्वस्व" के टीकाकार प्रसिद्ध विद्वान् जयरथ ने भी निष्कर्ष रूप में यही कहा है कि "इन्दुर्लिप्तइवाञ्जनेन" इत्यादि पद्यमें अप्रस्तुतप्रशंसा और पर्यायोक्ति दोनों का होना संभव है, अस्तु।

इसके सिवा "इन्दुर्लिप्तइवाञ्जनेन" इस पद्य में अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा भी है। भगवती सीता के मुख आदि की—जिनकी उत्प्रेक्षा की गई है, उनको न कहकर केवल चद्रमा आदि के निस्तेज होजाने की संभावना की गई है। यहां उत्प्रेक्षा द्वारा अप्रस्तुतप्रशसा की पुष्टी होती है— उत्प्रेक्षा तो अप्रस्तुतप्रशंसा की अंगभूत है, न कि प्रधान। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा के चमत्कार का आधिक्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। "सरस्वतीकण्ठाभरण" में महाराज भोज ने इस पद्य में 'समासोक्ति' अलंकार माना है। उनका मत है कि यहां अप्रस्तुत केवल 'चंद्रमा' आदि का कथन होने पर भी उपमेय-मुख आदि प्रस्तुतों का वर्णन कियेजाने में संक्षिप्त उक्ति है, अतः समोसोक्ति है। किन्तु अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के वर्णन में महाराज भोज के परवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशंसा ही माना है,नकि समासोक्ति।

काव्य के मिश्रित भेदों का विषय अत्यन्त गम्भीर और व्यापक है। यह तो दिग्दर्शन मात्र है अलंकारों में श्लेष का मिश्रण (मिलाव) प्रायः बहुत से अलंकारों में रहता है, उसका विवेचन दूसरे निबन्ध में किया गया है।

अलंकार

अलंकार का विषय जितना मनोरञ्जक है, उससे कहीं बढ़कर वह मनोवैज्ञानिक होने के कारण अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद भी है। विशेषतया सादृश्य-मूलक उपमा आदि, विरोध मूलक विभावना आदि, एवं श्लेष आदि ऐसे अलंकारों का जिनमें प्रायः दूसरे अलंकारों की संकीर्णता (मिलावट) रहती है, बहुत ही जटिल हैं। अतएव इन अलंकारों के विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों ने गम्भीरता पूर्वक विस्तृत विवेचन किया है, और वह बड़ा महत्वपूर्ण है। यहां इन्हीं अलंकारों के विषय में कुछ संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। कुछ समय पूर्व एकाधिक साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के इस विषय पर कुछ लेख निकले थे' उन लेखों पर हमने प्रत्यालोचनाएं की थीं। उनका भी इस निबन्ध में उल्लेख है।

लुप्तोपमा और असम अलंकार

"असम" और उपमान-लुप्त की उपमा का है विषय विभिन्न,
उदाहरण में भ्रम हो जाता स्थूल-दृष्टि से जान अभिन्न।
किन्तु असम में इस उपमा का कभी न संभव अन्तर्धान,
किया गया है सिद्ध यहाँ पर यही दिखाकर सुदृढ़ प्रमान।

संख्या (१)

अलङ्कारों में उपमा का स्थान सर्वोपरि है। संस्कृत साहित्य के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों में अर्थालङ्कारों के प्रसङ्ग में उपमा का ही प्रधानतया निरूपण किया गया है, इसका कारण यह है कि उपमा का

विषय अत्यन्त व्यापक है। उपमा की स्थिति प्रकारान्तर से अनेक अलङ्कारों में रहती है। उदाहरण रूप में, 'उपमा' और 'असम' के विषय में कुछ विचार प्रकट करते हैं।

"उपमा और असम" शीर्षक एक लेख सुधा पत्रिका (वर्ष १२, खण्ड १, संख्या १) में पंडित किशोरीदासजी वाजपेयी का निकला था। शास्त्रीजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। उस लेख के अन्त में, उस विषय पर अन्य साहित्यिकों से भी अपने-अपने विचार प्रकट करने का उन्होंने अनुरोध किया था। साहित्य के जटिल विषयों पर चर्चा होना केवल मनोरंजक ही नहीं, किन्तु बहुत कुछ उपयोगी भी होता है।

अतः शास्त्री जी के अनुरोध से हम अपने कुछ विचार यहाँ उपस्थित करते हैं। वाजपेयीजी का कहना है कि "काव्यप्रकाश" में उपमान-लुप्ता उपमा के—

> ढुण्ढुणन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइँ केअइ वणाइं,
> मालइकुसुमसरिच्छं भमर भमन्तो ण पावहिसि।"

अनुवाद—

> भूं भूं करि मरि है वृथा केतकि कंटक माहि,
> रे अलि, मालति कुसुम सम खोजत मिलि है नांहि।

इस उदाहरण में और रसगंगाधर के—

> "यस्य तुलामधिरोहसि लोकोत्तरपरिमलोद्गारैः,
> कुसुमतिलक चम्पक न वयं तं जातु जानीमः।"

अनुवाद—

> जिहिं तुलना तुहि दीजिये सुबरन सौरभ मांहि,
> कुसुम तिलक चम्पक अहो, हौं नहिंजानौं ताहि।

इस उदाहरण में उपमान का कथन नहीं किया गया है। और इसी प्रकार रसगंगाधर में "असम" अलङ्कार के दिये गये—

"भुवनत्रितयेपि मानवैः परिपूर्णेः विबुधैश्च दानवैः,
न भविष्यति नास्ति नाभवत् नृप यस्ते भजते तुलापदम् ।"

अनुवाद—

मनुज दनुज सुरगन भरे इहिं त्रिभुवन के माहिं,
भये न हैं हुइहै न, जो तेरी समता पाहि ।

इस उदाहरण में भी उपमान का निषेध है, अर्थात् उपमान लुप्ता के ऊपर के दोनों उदाहरणों में और इस असम के उदाहरण में एक ही बात है, फिर वहा क्यों लुप्तोपमा और यहाँ क्यों असम ?"

वाजपेयी जी की इस शका का समाधान पण्डितराज जगन्नाथ ने पहिले ही कर दिया है—"उपमानलुप्तोपमा में उपमान का आंशिक निषेध होता है"। जैसे काव्यप्रकाश में दिये गये ऊपर के उदाहरण में भ्रमर के प्रति यह कहा गया है कि मालती पुष्प के सदृश पुष्प तुम्हें केतकी के कण्टक बन में न मिलेगा—शायद और कहीं हो। इसी प्रकार रसगगाधर में दिये गये ऊपर वाले उदाहरण में भी यही कहा गया है कि चम्पक के पुष्प की समानता रखने वाला पुष्प सभव है कहीं हो पर हम नहीं जानते कहा है। ऐसे कथन में उपमान का सर्वथा निषेध नहीं है। असम के ऊपर वाले उदाहरण में राजा के उपमान का त्रिकाल में सर्वथा निषेध किया गया है, अत जहाँ आंशिक निषेध हो वहा उपमानलुप्तोपमा और जहा सर्वथा निषेध हो वहा असम माना गया है। इस पर वाजपेयी जी का कहना है "पण्डितराज की यह दलील मान ली जाय तो भी पण्डितराज ने उपमा के—

"सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालकृति"

इस लक्षण में वाक्यार्थ को सुशोभित करने वाले सादृश्य को उपमा कहा है। अर्थात् उपमा के लिये सादृश्य में वाक्य का पर्यवसान होना चाहिये, पर इसके विपरीत उपमानलुप्तोपमा के ऊपर वाले उदाहरणों में असादृश्य में (उपमान के निषेध में) ही पर्यवसान है।"

यद्यपि इस आक्षेप का भीपण्डितराज ने यह समाधान कर दिया है कि 'जिसकी तुलना तुझ से हो सके, उसे हम नहीं जानते' इस सादृश्य के अभाव के कथन में वाक्यार्थ का पर्यवसान नहीं, किन्तु 'सर्वज्ञ न होने के कारण जिसे हम नहीं जान सकते वह कोई तेरा उपमान होगा।' इस प्रकार सादृश्य के विधान में ही वाक्यार्थ का पर्यवसान है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश के ऊपर वाले उदाहरण में भी सादृश्य के विधान में ही वाक्यार्थ का पर्यवसान है।

वाजपेयी जी का कहना है कि "यदि पण्डितराज की यह दलील 'संभव है, कहीं तेरा उपमान होगा' मानली जाय तब भी यह सादृश्य प्रतीयमान (व्यंग्य) है, न कि वाच्य। पर उपमा में सादृश्य वाच्य होना आवश्यक है, क्योंकि प्रतीयमान-सादृश्य अन्यान्य अलंकारों का विषय है—उपमा का नहीं"। शास्त्रीजी की यही अंतिम दलील है, इसी के आधार पर आपने उपमानलुप्तोपमा को असम के अन्तर्गत मानना उचित समझा है।

वाजपेयीजी का यह कहना तो ठीक है कि ऊपर लिखे हुए उपमानलुप्तोपमा के उदाहरणों में सादृश्य वाच्य नहीं, प्रतीयमान है। किन्तु प्रतीयमान (व्यंग्य) सादृश्य उपमा में भी होता है, और व्यंग्योपमा में प्रतीयमान सादृश्य ही रहता है। यदि यह कहा जाय कि लुप्तोपमा के प्रकरण में प्रतीयमान-सादृश्य अवांछनीय है, तो यहां जो प्रतीयमान सादृश्य है, वह गूढ़ व्यंग नहीं है—अगूढ़ व्यंग है, जिसकी गणना गुणीभूतव्यंग में की जाती है। क्योंकि, "चंपक के पुष्प से समानता रखने वाले पुष्प को हम नहीं जानते।" यह कहने के साथ ही तत्काल "कहीं होगा" इस प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान हो जाता है। ऐसे अगूढ़-व्यंग वाच्यार्थ के अनेक अलंकारों में रहता है—अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति और पर्यायोक्ति आदि की सिद्धि ऐसे अगूढ़ व्यंग पर ही निर्भर है। अतः उपमानलुप्तोपमा में ऐसे अगूढ़-व्यंग्यात्मक-सादृश्य के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती है।

एक बात और है। यदि उपमानलुप्तोपमा को न माना जायगा तो—"मृगशावकचक्षुसा" अथवा "मृग से नयन विसाल" ऐसे उदाहरणों में जहाँ मृग के नेत्रों से कामिनी के नेत्रों की उपमा अभीष्ट है वहा केवल मृग शब्द का प्रयोग किया जाता है। मृग के नेत्र जो वस्तुत. कामिनी के नेत्रों के उपमान हैं उनकी उपमा नेत्रों को दी गई है, किन्तु उनका कथन नहीं है, अर्थात् उपमान का लोप है। ऐसे उदाहरणों में "असम' अलङ्कार तो हो नहीं सकता, क्योंकि असम में तो उपमान का सर्वथा ही निषेध किया जाता है—यहाँ उपमान का निषेध है ही नहीं, फिर यहाँ उपमानलुप्तोपमा के सिवा कौन सा अलङ्कार माना जा सकता है? अतएव उपमानलुप्तोपमा का असम में समावेश कदापि नहीं हो सकता है। वस्तुतः इन दोनों का विषय भिन्न भिन्न है। उपमानलुप्तोपमा में उपमान का अभाव नहीं होता, किन्तु उपमान का केवल लोप होता है। शब्द द्वारा स्पष्ट कथन नहीं होता, जैसाकि उपमानलुप्तोपमा के लक्षण में श्री मम्मट ने "उपमानानुपादाने" स्पष्ट कहा है, और "असम" में तो उपमान का सर्वथा निषेध किया जाता है। हां, यह बात अवश्य है कि उपमानलुप्तोपमा के उदाहरण देने में कुछ ही असावधानी हो जाने पर वहाँ असम का आधिपत्य हो सकता है, जैसा कि वाजपेयीजी द्वारा दिये हुये साहित्यदर्पण के उपमानलुप्तोपमा के—

"तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्य"

इस उदाहरण में "असम" की प्रतीति होती है, क्योंकि इसमें वर्तमान काल में ही सादृश्य का निषेध है, त्रैकालिक निषेध नहीं। वाजपेयीजी का कहना है—"काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट "असम" न लिखकर गलती की है"। आचार्य मम्मट ने ही नहीं, उनके पूर्ववर्ती अन्य साहित्याचार्यों ने भी बहुत से ऐसे अलङ्कार, जिनको उन्होंने अपने निरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत समझा था, उनका स्वतंत्र निरूपण नहीं किया है। जैसे, आचार्य दण्डी ने प्रतीप,

तुल्ययोगिता, भ्रान्तिमान्, संदेह, व्यतिरेक, भ्रान्तापन्हुति और अनन्वय आदि बहुत से अलङ्कार उपमा के भेदों के अन्तर्गत लिखे हैं, एवं मीलित और अधिक आदि अलंकार अतिशयोक्ति के अन्तर्गत लिखे हैं। इसी प्रकार, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जायगा, असम को अनन्वय के अन्तर्गत मानकर आचार्य मम्मट आदि ने असम का पृथक् निरूपण नहीं किया है।

वाजपेयीजी का यह कहना भी उचित नहीं है कि—"सादृश्य के निषेध मात्र में असम होता है, चाहे वह आंशिक हो, चाहे सर्वथा क्योंकि ऐसी परिस्थिति में यदि एक अलङ्कार से पृथक् दूसरा"। अलङ्कार न माना जायगा तो बहुत से अलङ्कारों का अस्तित्व ही न रहेगा। जैसे, उपमा के "सादृश्य ही उपमा है" इस लक्षण के स्थूल आधार पर यदि उपमा अलङ्कार का होना किसी भी प्रकार के सादृश्य के होने पर मान लिया जायगा तो, जिस में उपमान को उपमेय का सादृश्य दिया जाता है, उस प्रतीप का, और जिसमें उपमेय और उपमान को परस्पर सादृश्य दिया जाता है, उस उपमेयोपमा का अस्तित्व न रहेगा। सादृश्य तो इन दोनों ही में है फिर चाहे उपमान को उपमेय का सादृश्य दिया जाय, चाहे परस्पर सादृश्य दिया जाय उपमा ही मानना होगा। रूपक में उपमान का उपमेय में आरोप होता है, और अपन्हुति में भी उपमान का उपमेय में आरोप होता है—भेद केवल इतना ही है कि रूपक में निषेध-रहित आरोप किया जाता है और अपन्हुति में निषेध के बाद आरोप किया जाता है। यदि आरोप मात्र में ही रूपक मान लिया जायगा तो बेचारी अपन्हुति लटकती ही रह जायगी—अलङ्कारों में उसका नामो-निसान ही न रहेगा। इसी प्रकार रूपक और परिणाम, दीपक और तुल्ययोगिता, एवं अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति में बहुत ही कम विभिन्नता है। यदि स्थूल चमत्कार को ही अलंकार का आधार माना जायगा तो परिणाम, तुल्ययोगिता और समासोक्ति का क्रमशः रूपक, दीपक और अप्रस्तुतप्रशंसा में समावेश हो जायगा। और भी बहुत से ऐसे अलङ्कार हैं जिनका स्थूल आधार पर एक

में दूसरे का समावेश हो सकता है। यही क्यों, यदि सूक्ष्म चमत्कार के आधार पर अलङ्कारान्तर न माने जायँगे तो "असम" अलंकार का भी नामोनिशान न रह सकेगा, असम का "अनन्वय" में समावेश हो जायगा। क्योंकि अनन्वय अलकार "द्वितीय सदृशान्यवच्छेदफलक" है। अर्थात् अनन्वय में जो यह कहा जाता है कि—तेरे समान तू ही है—इसका फलितार्थ यही है कि तेरे समान दूसरा कोई नहीं। असम में उपमान का निषेध ही तो किया जाता है, फिर अनन्वय के अतिरिक्त असम अलकार की कल्पना करना निरर्थक हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार अनन्वय के वाच्यार्थ का फलितार्थ असम है, उसी प्रकार असम में जो यह कहा जाता है कि—"तेरे समान दूसरा कोई नहीं" उसका फलितार्थ भी "तेरे समान तू ही है" इसप्रकार अनन्वय ही है, फिर अनन्वय को न मानकर असम ही क्यों न माना जाय? यह युक्ति सगत नहीं, क्योंकि अनन्वय का चमत्कार वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनों में बना रहता है तेरे समान तू ही है—इस वाच्यार्थ में और "तेरे समान दूसरा कोई नहीं" इस व्यग्यार्थ में अनन्वय का ही चमत्कार बना रहता है। 'असम' में यह बात नहीं है। असम के 'तेरे समान दूसरा नहीं' इस वाच्यार्थ में असम का चमत्कार रहता है, परन्तु 'तेरे समान तू ही है इस व्यगार्थमें असम का चमत्कार नहीं रहता है, असम में सादृश्य का निषेध शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाता है, अतएव अनन्वय का चमत्कार वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनों में रहने के कारण विषय की अधिक व्यापकता की दृष्टि से अनन्वय ही प्रधानता से माना जाता है, न कि असम। निष्कर्ष यह है कि स्थूल दृष्टि से तो असम भी अनन्वय में अन्तर्गत समझा जा सकता है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो न तो असम में उपमानलुप्तोपमा का ही समावेश हो सकता है और न अनन्वय में असम का।

(२)

ऊपर के हमारे लेख की प्रत्यालोचना वाजपेयीजी ने नवम्बर सन् १९३९ के अपने "मराल" पत्र में की है। संतोप का विषय है कि उपमानलुप्ता-उपमाका अस्तित्व वाजपेयीजी ने स्वीकार कर लिया है। अब मत-भेद केवल आचार्य मम्मट आदि द्वारा दिखाये गये उपमान-लुप्ता के कुछ उदाहरणों के विषय में ही रह गया है। प्रथम तो साहित्य में लक्षणों और उदाहरणों का विषय बड़ा जटिल एवं विवादास्पद है, इस विषय में मतैक्य होना प्रायः बड़ा कठिन है। यदि प्रस्तुत उदाहरणों के विषय में विचार किया जाय तो मेरे विचार में वाजपेयीजी की यह दलील भी अनुपयुक्त है कि "जब तक किसी उपमान का नाम नहीं कहा जाय कि 'अमुक के समान यह है', तब तक उपमा नहीं हो सकती"। वाजपेयीजी स्वयं "मृगशावकचक्षुसा" में (जिसमें उपमान का कथन नहीं है) उपमान लुप्ता उपमा स्वीकार करते है। और देखिये—

"अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चन्द्र हृष्यसि,

भूमण्डलमिदं मूढ केन वा विनिक्षालितम्।"

अर्थ—अरे मूढ चन्द्र, तू अपनी कान्ति को अद्वितीय समझ कर गर्व क्यों कर रहा है? इस सारे भू-मण्डल को किसने खोज कर देखा है—न जाने कहाँ क्या है।

चन्द्रमा की चाँदनी से संतप्त किसी वियोगी की चन्द्रमा के प्रति यह उक्ति है। 'कभी बाहर न निकलने वाली अतएव जिसको तेने कभी नहीं देखा है, ऐसी मेरी प्रियतमा का मुख तेरे समान है।' यहाँ चन्द्रमा के प्रति वक्ता की जो असूया है उसमें विपर्यय व्यंग्योपमा है और उपमान का कथन नहीं है, अतएव यह कोई नियम नहीं कि उपमा में उपमान का उपादान (स्पष्ट कहना) अनिवार्यतः आवश्यक हो। यदि इस उदाहरण के सम्बन्ध में यह शंका की जाय कि पण्डितराज ने उपमा के

लक्षण में सादृश्य का वाच्य होना कहा है और इस में सादृश्य व्यंग्य है तो इसका समाधान यह है कि उपमा के आविष्कर्ता पण्डितराज जगन्नाथ नहीं, किन्तु उपमा अलंकार साहित्य के आद्याचार्य नाट्य-शास्त्र के प्रणेता श्री भरत मुनि से भी पहले ही से प्रसिद्ध हैं। मम्मटाचार्य ने उपमा के "सादृश्य उपमा भेदे" इत्यादि लक्षणों में वाच्य और व्यंग्य का कोई नियम नहीं लिखा है। पण्डितराज को भी उपमा में सादृश्य वाच्य होना है, अभीष्ट नहीं, उन्होंने वाच्य सादृश्य का प्रयोग केवल वाच्यार्थ में कही जाने वाली उपमा के लिये ही किया है। यदि ऐसा न होता तो रसगंगाधर में व्यंग्योपमा का निरूपण वे क्यों करते उन्होंने उपर्युक्त "अद्वितीय रुचात्मान " पद्य ही व्यंग्योपमा के उदाहरण में लिखा है। ऐसी अवस्था में पण्डितराज द्वारा निरूपित उपमा के लक्षण से कोई आपत्ति नहीं आ सकती है।

'असम' के विषय में कुछ और भी स्पष्ट करना आवश्यक है। "अनन्वय" अलङ्कार के होते हुए असम का अस्तित्व नहीं रह सकता क्योंकि अनन्वय का अर्थ ही यह है कि किसी दूसरे के साथ सम्बध का अभाव होना अर्थात उपमेय का कोई भी उपमान तीनों काल में न होना। फिर असम में ऐसा कौनसा विशेष चमत्कार रह जाता है जिसके लिये असम अलङ्कार की कल्पना करना आवश्यक है। यथार्थ में उपमान का त्रैकलिक करना ही अनन्वय का मुख्य विषय है। अतएव अलङ्काररत्नाकर के अनुयायी पण्डितराज जगन्नाथ ने जो असम के उदाहरण लिखे हैं वे मुख्यतया अनन्वय के ही उदाहरण हो सकते हैं। यद्यपि सभी प्राचीनाचार्यों ने उपमेय के सदृश उपमान के अभाव में उपमेय को ही उपमान रख कर अनन्वय के उदाहरण लिखे हैं, और उनमें एक प्रकार से अनन्वय के नामार्थ का समन्वय हो जाता है तथापि अनन्वय का विषय ऐसे उदाहरणों तक ही सीमित नहीं रह सकता। विचार करने पर अनन्वय के उदाहरण प्रधानतया उपमान के त्रैकालिक निषेध के ही हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि असम के नामार्थ पर विचार

किया जाय तो वह सम के विपरीत विषम के नामार्थ के अनुकूल है। आशा है वाजपेयीजी इस पर फिर विचार करेंगे।

(३)

"लुप्तोपमा और असम" विषयक हमारे संख्या २ के लेख की श्री वाजपेयीजी ने अपने दिसम्बर सन् १९३९ के मराल में आलोचना की है। आप कहते हैं—"मैंने मृगशावकचक्षुसा में उपमान-लुप्ता उपमा का निषेध नहीं किया है।" किन्तु श्री वाजपेयी जी का ऐसा कहना आश्चर्यजनक है, जब कि उन्होंने अगस्त सन् १९३८ की सुधा में लिखा है—"उपमान-लुप्ता उपमा का निरूपण करने में आचार्यों ने धोखा खाया है, साधारण धर्म आदि के लोप में तो लुप्तोपमा हो सकती है पर जब उपमान का ही लोप हो तब उपमा कैसे हो सकती है ?.......मम्मट और विश्वनाथ के मन में तो इस असम अलंकार की कल्पना ही न आई.......पर पण्डितराज को क्या कहा जाय, जिन्होंने असम अलंकार लिखकर अलग उपमान-लुप्ता अलंकार भी लिख दिया।" इन वाक्यों से स्पष्ट ही वाजपेयी जी ने उपमान लुप्ता उपमा का निषेध किया है। हाँ, इसके बाद हमारे संख्या १ के लेख में उपमान-लुप्ता का "मृगशावकचक्षुसा" उदाहरण देखकर अगत्या वाजपेयीजी को उपमान-लुप्ता का होना स्वीकार करना पड़ा है। अस्तु।

श्री वाजपेयीजी हमारे संख्या २ के लेख में व्यंग्योपमा के दिखाये गये—

"अद्वितीयं रुचात्मानं मत्वा किं चंद्र हृष्यसि,
भूमंडलमिदं मूढ केन वा विनिद्दालितम्।"

"इस उदाहरण के विषय में लिखते हैं—"इसमें चन्द्रमा उपमान है, जिसे पोद्दारजी ने शायद उपमेय समझ रक्खा है। उपमेय तो चन्द्रानना है, उपमेय से उपमान कभी नहीं ढूंढा जाता है।"

प्रथम तो वाजपेयीजी का यह कथन ही चिन्त्य है कि उपमेय से उपमान कभी नहीं ढूंढ़ा जाता, क्योंकि उपमेय के लिये ही उपमान ढूँढ़ा जाता है; उपमान के लिये उपमेय ढूंढ़ने की कदाचित् ही किसी कवि को आवश्यकता रहती हो। यद्यपि साधारणतः मुख

उपमेय और चन्द्रमा उपमान होता है, पर इस पद्य में वक्ता द्वारा चन्द्रमा को उपमेय कल्पना करके और अपनी प्रियतमा के मुख को उसका उपमान कह कर, अपना सादृश्य कहीं भी नहीं मानने वाले अर्थात् अपने को अनुपम मानने वाले चन्द्रमा का गर्व विनाश किया गया है। यदि व्यंग्योपमा में उद्धृत इस पद्य में चन्द्रमा को उपमान माना जाय तो व्यग्योपमा की स्थिति ही कहाँ रह सकती है ? जब कि चन्द्रमा का कथन स्पष्ट शब्दों में कर दिया गया है। यह 'विपर्ययोपमा' केवल व्यग्य ही नहीं, वाच्य भी होती है। आचार्य दण्डी ने कहा है--

"तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति,
सा प्रसिद्धे विपर्यासात् विपर्यासोपमेष्यते।"

—काव्यादर्श २-१७।

इसमें मुख को उपमान और कमल को--जो मुख का प्रसिद्ध उपमान है, वाच्यार्थ में ही उपमेय कहा गया है। ऊपर के रसगगाधर के और इस काव्यादर्श के उदाहरण में भेद केवल यही है कि यहां "तवानन" के आगे "इव" शब्द श्रोती उपमा का वाचक लगा हुआ है, जिसमे मुख को स्पष्टतया उपमान कह दिया गया है, परन्तु व्यग्योपमा में उपमान का कथन शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता, इसलिये वहाँ उपमान वाचक "इव" शब्द का प्रयोग किया जाना असभव है, अत. वहाँ व्यग्यार्थ द्वारा मुख में उपमानता की प्रतीति कराई गई है। आश्चर्य है कि वाजपेयी जी ने इस पद्य में चन्द्रमा को उपमान किस प्रकार समझ लिया है ?

वाजपेयीजी ने कहा है—"पोद्दारजी असम को अनन्वय में गतार्थ समझते हैं यह असमीचीन है।" फिर उन्होंने उदाहरण लिख कर अपने पूर्व लेख की पुनरावृत्ति की है। किन्तु वाजपेयीजी को इस पर फिर कुछ लिखना ही अभीष्ट था तो हमने अपने पिछले लेख में जो अनन्वय के होते हुये असम के अस्तित्व का निषेध प्रतिपादित किया था, उस पर ही लिखना चाहिये था।

वाजपेयीजी का यह भी कहना है कि "पोद्दारजी ने असम को विषम समझ रक्खा है, समता का होना एक बात है और विषम होना दूसरी बात है।" और फिर वाजपेयीजी ने असम और विषम के उदाहरण दिखाये हैं। किन्तु आप ने जो असम के उदाहरण लिखे हैं उनको हमने कहीं भी विषम का विषय नहीं कहा है। हमने तो केवल यह लिखा है कि असम के अर्थ पर विचार किया जाय तो 'असम' अलङ्कार सम के विपरीत विषम के अर्थ के अनुकूल है अर्थात् असम और विषम पर्याय शब्द हैं। वाजपेयीजी ने जो विषम का—

"कहहु तो कहाँ चरन कहँ माथा।"

यह उदाहरण लिखा है। उसमें भी असम के अर्थ का समन्वय भली प्रकार हो सकता है, इस में चरण और मस्तक की असमता ही बताई गई है।

वाजपेयीजी कहते हैं—"असम और विषम का शब्दार्थ पोद्दारजी ने एक ही समझ रक्खा है, सो ठीक नहीं।" किन्तु इस में मेरा क्या दोष है: जब कोष में ही असम का अर्थ विषम और विषम का अर्थ असम मिलता है—

"असमः त्रिः विषमः।" —शब्दकल्पद्रुम पृ० १५२
"विषम : असमानम्।" —शब्दकल्पद्रुम पृ० ४४५

इसके सिवा त्रिकालज्ञ भगवान् मनु ने भी विषम शब्द का प्रयोग असम के अर्थ में ही किया है—

"भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह:,
न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात् कथंचन।"
—मनुस्मृति ६-११५.

इस में सम के विपरीत अर्थात् असम के लिये विषम शब्द का प्रयोग है। ऐसी अवस्था में वाजपेयीजी स्वयं विचार करें।

श्लेष अलंकार की व्यापकता

होता है जिस अलकार के साथ श्लेष का योग जहाँ,
बढ़ जाता उस अलकार का चमत्कार अति अधिक वहाँ,
किन्तु श्लेष का विषय बहुत ही जटिल क्योंकि मतभेद महा,
सोदाहरण विवेचन इसका किया गया है अत यहाँ।

अलकारों में श्लेष अलकार बड़ा महत्त्व पूर्ण है। आचार्य दण्डी ने कहा है—

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्राय वक्रोक्तिषु श्रियम्"

—काव्यादर्श २–२६३

अर्थात् श्लेष प्राय सभी अलकारों के चमत्कार में अभिवृद्धि करता है।

श्लेष के विषय में प्राचीन साहित्याचार्यों का बड़ा मतभेद है। उद्भटाचार्य[1] का मत है—"जहाँ श्लेष अलंकार होता है, वहाँ दूसरे किसी न किसी अलकार की स्थिति अवश्य रहती है, अर्थात् अन्य किसी अलकार के बिना विविक्त (केवल स्वतन्त्र) श्लेष का उदाहरण हो ही नहीं सकता है, जैसे—

"त्रात काकोदरो[2] येन द्रोग्धापि करुणात्मना,
पूतनामारणख्यात[3] स मेस्तु शरण प्रभुः।"

---

[1] उद्भटाचार्य प्रसिद्ध साहित्याचार्य हुए हैं। ये आठवीं शताब्दी के लगभग हुऐ थे। इनका प्रणीत "अलकारसारसग्रह" ग्रन्थ है। भामहाचार्य के बाद इन्हीं का स्थान है।

२ श्री राम के सम्बध में काकोदर का अर्थ इन्द्र का पुत्र जयन्त है, जिसने कौआ का रूप बनाकर भगवती सीता का अपमान किया था। श्री कृष्ण के सम्बध में काकोदर का अर्थ कालीनाग है, जिसके विष मिले हुऐ यमुना जल के पीने से गोप बालक मूर्छित हो गये थे।

३. श्री राम के पक्ष में "पूतनामारणख्यात" का अर्थ है- पूतनामा

भावानुवाद—

हे पूतनामारण में प्रसिद्ध, जघन्य काकोदर था विपक्ष,
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु।

इस पद्य में श्लिष्ट (दो अर्थ वाले) पदों द्वारा भगवान् श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र दोनों का वर्णन किया गया है, अतः श्लेष है। उद्भटाचार्य का कहना है—"श्लेष के ऐसे उदाहरणों में "तुल्ययोगिता" अलंकार भी श्लेष के साथ रहता है। तुल्ययोगिता अलंकार में प्रस्तुतों का अथवा अप्रस्तुतों का एक ही धर्म कहा जाता है, यहाँ भी श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र दोनों प्रस्तुतों का (वर्णनीयों का) 'काकोदर' आदि श्लिष्ट शब्दों द्वारा एक ही धर्म कहा गया है।"

उद्भटाचार्य के ऐसा कहने का कि जहाँ "श्लेष" होता है वहाँ अनिवार्यतः कोई दूसरा अलंकार भी होता है, यह अर्थ नहीं है कि 'श्लेष' अलंकार का अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु उनका मत यह है कि जहाँ श्लेष के साथ जो दूसरा अलंकार होता है, उस अलंकार का श्लेष को बाधक (हटानेवाला) मानकर "निरवकाशो विधिरपवादः"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार वहाँ "श्लेष" अलंकार ही मानना चाहिये, क्योंकि अन्यान्य अलंकारों की स्थिति तो श्लेष के बिना भी रह सकती है, किन्तु श्लेष की विविक्त (किसी दूसरे अलंकार के बिना स्वतन्त्र) स्थिति नहीं हो सकती है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में उद्भट के इस मत की आलोचना करते हुये लिखा है कि "श्लेष" का विविक्त उदाहरण हो सकता है। "त्रातः काकोदरो येन" उदाहरण ही (जिसमें तुल्ययोगिता के साथ श्लेष का मिश्रण बतलाया जाता है,) श्लेष का विविक्त उदाहरण है। इसमें तुल्ययोगिता नहीं है। क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रस्तुतों का अथवा

अर्थात् पवित्र नाम वाले और जो रण में (युद्ध कौशल में) प्रसिद्ध हैं। श्री कृष्ण के पक्ष में इसका अर्थ है 'जिनका पूतना राक्षसी को मारना प्रसिद्ध है।'

१ तात्पर्य यह है कि जिस के लिये किसी विशेष स्थान के सिवा अन्य स्थान नहीं है; वह पदार्थ, ऐसे दूसरे पदार्थ को; जिसके लिये अन्यत्र भी स्थान है; उस दूसरे पदार्थ को उस स्थान से हटाकर, वह प्रधानता प्राप्त कर लेता है।

अप्रस्तुतों का पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कथन करके उनका (प्रस्तुतों का अथवा अप्रस्तुतों का (एक धर्म कहा जाता है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में न तो प्रस्तुतों का (श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों का) पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कथन ही किया गया है "प्रभु" इस एक ही श्लिष्ट (दो अर्थवाले) शब्द द्वारा कथनकिया गया है और न इनका एक धर्म ही कहा गया हे 'काकोदरो येन"—द्वारा श्रीराम के पक्ष में काक रूप धारण करने वाले जयन्त की रक्षा करना कहा गया है और श्रीकृष्ण के पक्ष में कालीय सर्प की रक्षा करना कहा गया है। और "पूतनामारणख्यातः" में राम के पक्ष में पूतनामा अर्थात् पवित्र-नाम और रणख्यात. अर्थात् रण में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले कहा गया है। श्रीकृष्ण के पक्ष में पूतना राक्षसी को मारने वाले कहा गया है, अतः तुल्ययोगिता नहीं, विविक्त श्लेष है।

आचार्य मम्मट का यह अभिप्राय नहीं है कि श्लेष के साथ अन्य कोई अलकार मिश्रित होता ही नहीं है। उनका कहना तो यह है कि विविक्त श्लेष भी होता है। और जहाँ श्लेष के साथ दूसरा कोई अलकार होता है, वहाँ उन दोनों में जिसकी प्रधानता होती है, उसी को "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रधानता दी जाती है। इसके उदाहरण—

अभिमताधिकसिद्धिप्रदायिनीं,
भवदवच्छिदमव्ययमचारिणीम् ।
वह विभो हृदये दयिता दयाम्,
वपुषि भूधरराजसुतामिव ।
—जगद्धर भट्ट कृत स्तुतिकुसुमांजलि, स्त्रोत्र-१० पद्य-६४

भाषानुवाद—

वांछित सौदेवतु अधिक भवदव समन सुभाव।
गिरिजा जिमि दयिता दया हिय धरिये सदभाव॥

भगवान् शकर से कवि प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार आप गिरिराज सुता को धारण करते हैं, उसी प्रकार दया को भी (मेरे विषय में) धारण करें। यदि आप यह कहें कि श्री गिरिजा

तो शरणागतों को वांछित फल देनेवाली है, और संसार की ताप को प्रशमन करनेवाली एवं सर्वदा आपके साथ रहने वाली आपकी प्रियतमा हैं, इसलिये आपने उनको अपने हृदय में स्थान दिया है, तो हे स्वामिन्! आपकी दया (करुणा) भी भक्तजनों को वांछित वरदान देनेवाली, संसार रूपी दावाग्नि को शमन करनेवाली, तथा सर्वदा आपके समीप रहने वाली आपकी प्रियतमा है।

यहाँ दया को श्री गिरिजा की उपमा दी गई है। "अभिमताधिक-सिद्धि विधायिनीं" इत्यादि समान धर्मात्मक जो विशेषण हैं उनके द्वारा श्री गिरिजा और दया दोनों के समान धर्म का उल्लेख है अतः उपमा के साथ अर्थश्लेष होने पर भी उपमा ही प्रधान है, क्योंकि यहां श्लेप के विना दया को श्री गिरिजा की पूर्ण उपमा सिद्ध नहीं हो सकती। उपमा का सहायक होने के कारण श्लेप यहाँ उपमा का अंग मात्र है। ऐसे उदाहरणों में श्लेप न मानकर उपमा ही मानी जाती है।

कृष्णार्जुनरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी,
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि।

—दण्डीकृत काव्यादर्श २।३३६

भावानुवाद—

अलि तेरी अँखियान कौ करि है को विसवास,
कृष्णार्जुन रत तउ करत करन निकट नित वास।

किसी रमणी के प्रति परिहासात्मक उक्ति है। उसकी दृष्टि को (नेत्रों को) कृष्ण (श्याम), अर्जुन (श्वेत) और रक्त (अरुणिमायुक्त) एवं कानों तक दीर्घ कहा गया है। कृष्ण, अर्जुन, रक्त और कर्ण शब्द श्लिष्ट हैं। श्लेषार्थ यह है कि "हे मंजुभाषिणि! तेरी दृष्टि कृष्णा (द्रौपदी) के समान, अर्जुन (पांडुपुत्र) में रक्त (अनुरक्त) होते हुये भी, कर्ण (अर्जुन के शत्रु) का अवलम्बन करती है, अतः तेरा कौन विश्वास कर सकता है? यहाँ 'कृष्ण' आदि श्लिष्ट शब्दों द्वारा विरोधाभास अलंकार है। श्लेष विरोधाभास की सहायता से व्यक्त होता है, अतः श्लेप विरोधाभास का अंग है, न कि प्रधान, ऐसे उदाहरणों में विरोधाभास ही माना जायगा।

"अमृतात्मनि पद्मानां द्वेष्टरि स्निग्धतारके,
मुखेन्दौ तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥
काव्यादर्श—२—१५६

भावानुवाद—

हरत कमल छवि अमृतमय तारक तरल निकाम ।
तेरे मुख के होत अलि, गगन चन्द किहिं काम ॥

नायिका केप्रति उक्ति है । चन्द्रमा कमलों का शत्रु है, अमृत मय है, एवं तारावली से युक्त है । तेरा मुख भी अमृत मय है (अधरामृत युक्त है) एवं कमलों को अपने कोमलता और सुन्दरतादि गुणो मे पराजित करने वाला है और स्निग्धतारक (स्नेह युक्त नेत्रों की श्यामकनीनिका वाला) है । ऐसी परिस्थिति में तेरे मुखचन्द्र के होते हुए इस आकाश क चन्द्रमा का होना व्यर्थ है । यहाँ "प्रतीप" के (दण्डी के मत में "आक्षेप" के) साथ श्लेष है, श्लेष द्वारा ही प्रतीप की सिद्धि होती है । वक्ता को नायिका के मुख की कान्ति द्वारा चन्द्रमा का अनादर करना अभीष्ट है, अत. यहाँ "प्रतीप" प्रधान है । ऐसे उदाहरणों में "प्रतीप" ही माना जाता है, न कि श्लेष ।

"एतेन किं निविड़बन्धमृतो भुजंगा
किंवा न वक्रिमविलासविकासभाज
किंतु क्रमादपचिता : पदगुम्फहीना
सूक्तामृतानुकरणे कथमुत्सहन्ते ।
तस्माद्वयस्त्रमद : फणिकर्णपूर
हे वाकदुर्ललितमस्तनय विहाय ।
स्वामिन्निमा : श्रवणयो : प्रणयोपचार—
गर्भागिरश्चतुरमाभरणी कुरुष्व ।"
—स्तुतिकुसमाञ्जलि (जगद्धर भट्ट) ६, ५७-५८

भावानुवाद—

जदपि वक्रगति-बध-जुत पै ये पदक्रम भग,
सुघटित सुवरन उक्ति की समता लहै न भुजग ।
तजि अहि-भूषन व्यसन प्रभु समुझि प्रणय उपचारु,
करहु न क्या सद् उक्ति मम कर्नाभरन सुचारु ।

भगवान् शंकर से कवि प्रार्थना करता है—हे स्वामिन्, यद्यपि वे (भुजंग) दृढ़ बन्धन (ग्रन्थि) और वक्रिम (कुटिलता) के विलासमयी सौंदर्य से अवश्य सम्पन्न हैं, किन्तु ये चरण-हीन होने के कारण क्रम से रहित और पद-गुम्फ से हीन हैं अर्थात् क्रमशः पद-न्यास नहीं कर सकते हैं। अतः ये (भुजंग) मेरे सुन्दर वचनामृतों की समता किसी प्रकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि मेरी सूक्ति-सुधा दृढ़ रचना वाली तथा वक्रोक्ति वैचित्र्यशाली भुजंगों के समान उपर्युक्त गुण सम्पन्न होने के अतिरिक्त न तो क्रम रहित है और न पद-रचना से हीन है, फलतः इन भुजंगों की अपेक्षा मेरी सूक्ति-सुधा में अधिक गुण है। अतएव आप इन भयंकर भुजंगों के कर्ण-कुण्डलों को धारण करने के दुर्व्यसन को शीघ्राति शीघ्र त्याग कर प्रणयोपचार से परिपूर्ण इन मेरे वाक्यामृतों को (मेरी स्तुतियों को) अपना कर्ण-भूषण बनाने की कृपा करें।

उपमान-भुजंगों से उपमेय वचनामृतों (स्तुतियों) के उत्कर्ष का उल्लेख है। अतः "व्यतिरेक" अलंकार है। "निविड़बंधभृतो..." इत्यादि श्लिष्ट पदों द्वारा 'व्यतिरेक' व्यक्त होता है, अतः व्यतिरेक के साथ श्लेष का मिश्रण है। पर श्लेष प्रधान नहीं है, व्यतिरेक का अंग है। ऐसे उदाहरणों में व्यतिरेक ही माना जाता है, न कि श्लेष।

"उदितेकुमारसूर्ये कुवलयमुल्लसति भाति नक्षत्रम्
मुकुली भवन्ति चित्रं परराजकुमारपाणिपद्मानि।"

भावानुवाद--

अब कुमार-रवि के उदै कुवलय लसत नछत्र,
कर-सरोज अरि-नृपन के मुँदे अहो यह चित्र।

यह किसी राजकुमार के प्रताप का वर्णन है। कुमार-सूर्य (राज-कुमार-सूर्य) के उदय होने पर कुवलय (पृथिवी मंडल) उल्लसित हो गया, न क्षत्रं भाति अर्थात् अन्य क्षत्रियकुल का तेज नष्ट हो गया और शत्रु-राजकुमारों के हाथ रूपी कमल मुँद गए (वे हाथ जोड़ने लगे)

"विकसितमुखीं रागासङ्गाद्गलत्तिमिरावृतिं,
दिनकरकरस्पृष्टामन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः,
श्रयति हरितं प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः।"

—साहित्यदर्पण।

भावानुवाद—

रविकररागस्पर्श से जिसने तिमिरावरण किया है दूर,
विकसितमुखी प्रिया ऐन्द्री को अपने सम्मुख देख अदूर।
शोकाकुल पीला पड़कर अब कलुषान्तर हो विकल महान,
प्राचेतस दिशि को बेचारा निशानाथ कर रहा प्रयाण।

प्रातःकालीन निस्तेज चन्द्रमा का वर्णन है। यहां चन्द्रमा में ऐसे रसिक पुरुष की दुःखावस्था की प्रतीति कराई गई है जो अपनी पूर्वानुरक्ता कामिनी को अपने समक्ष अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर मरने को उद्यत होजाता है, और पूर्व दिशा में ऐसी कुलटा स्त्री के व्यवहार की प्रतीति कराई गई है, जो अपने पहिले प्रेम पात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य पुरुष में आसक्त होजाती है। यहाँ "राग", 'तिमिरावरण", "विकसित" और "ऐन्द्री" आदि श्लिष्ट शब्दों की सहायता से "समासोक्ति" अलंकार व्यक्त होता है। पर श्लेष प्रधान नहीं है, क्योंकि प्रस्तुतअप्रस्तुताश्रित श्लेष में विशेष्य वाचक पद श्लिष्ट होता है और समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं—विशेष्य नहीं। 'निशानाथ" और "प्राचेतसदिशा" जो विशेष्य हैं, वे श्लिष्ट नहीं हैं, अतः यहां समासोक्ति ही है, न कि श्लेष।

इस विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि जहां "श्लेष" का किसी दूसरे अलंकार के साथ मिश्रण होता है, वहां जिस अलंकार की प्रधानता होती है वही अलंकार माना जाता है।

विभावना विभ्राट

'आश्चिष्टातिशयोक्तिश्च सर्वत्रैव विभावना[1] ।'

अतिशयोक्ति अथवा रूपक ही करते जिसमें प्राणाधान,
इनके बिना नहीं हो सकता है विभावना का निर्माण ।
इस रहस्य पर लक्ष्य न देकर कुछ विद्वान हुए हैं भ्रान्त,
यही विवेचन किया गया है परमावश्यक विषय नितान्त ।

—:०:—

'विभावना' अलंकार के विषय में समय-समय पर साहित्यकार विद्वानों के लेख निकलते रहे हैं । हमने इस विषय पर जो लेख लिखे हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

(१)

मई सन् १९४२ की 'माधुरी' पत्रिका में पं० रघुनाथप्रसादजी चतुर्वेदी साहित्य शास्त्री का 'विभावना अलंकार' शीर्षक लेख निकला था । अप्पय्य दीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' में निर्दिष्ट 'विभावना' के उदाहरणों के विषय में आलोचना करते हुए चतुर्वेदी जी ने कहा है कि उन उदाहरणों में विभावना का सर्वथा अभाव है । और कुवलयानन्द के आधार पर लिखे गये हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों के लेखकों पर भी आपने अन्धानुसरण करने का आक्षेप किया है, चतुर्वेदीजी ने यही आक्षेप हमारे ऊपर भी किया है । चतुर्वेदी जी कहते हैं—

"हिन्दोस्तानी एकोडेमी के किसी अंक में ·········· जिस उदाहरण में चौथी विभावना बतलाई गई थी, पढ़ने पर सन्देह हुआ और आश्चर्य भी । सन्देह निराकरण के लिये हिन्दी साहित्य के स्थानीय प्रसिद्ध विद्वान का अलंकार विषयक एक विशाल ग्रन्थ[2]

१—विभावना अलंकार में नियमितरूप से अतिशयोक्ति मिली हुई रहती है ।
२—हमारा काव्यकल्पद्रुम ।

देखने पर भी भ्रम का निराकरण तो नहीं हुआ, प्रत्युत वह और भी दृढ-मूल हो गया--"मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की।"

चतुर्वेदीजी का कहना है "कुवलयानन्द में चौथी विभावना के—

'अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना।'

इस लक्षण के अनुसार जो—

'शङ्खाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्।'

और—

'तिलपुष्पात्समायाति, वायुश्चन्दनसौरभः।'
'इन्दीवरयुगाश्चित्र निस्सरन्ति शिलीमुखाः।'

उदाहरण दिये गये हैं, इनमें भेद में अभेद रूपा अतिशयोक्ति-रूपकातिशयोक्ति अलकार है, न कि विभावना।"

दुःख है कि चतुर्वेदीजी ने विभावना अलकार के विषय में पर्याप्त अध्ययन नहीं किया है। सभवतः आपने यह जानने का कष्ट नहीं उठाया कि विभावना के अस्तित्व का मूल आधार क्या है। इस परिस्थिति में विभावना अलकार के विषय में आचार्यों के मत का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है—

"एवचास्मिन्नअलङ्कारे सर्वत्रापि कार्यांशे अभेदाध्यवसान रूपातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता।"

—रसगगाधर, विभावना प्रकरण।

"अतिशयोक्तिस्तु तदङ्गम। सर्वथा कार्यांशेऽभेदबुद्धिर्विभावना जीवितुम। सा च क्वचिदतिशयोक्त्या क्वचिद्रूपकेण।"

—काव्यप्रकाश पर नागेश भट्ट की टीका।

"द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या। साचास्याम-व्यभिचारिणीति नतद्वाधेनास्या उत्थापनम् अपितु तदनुप्राणितत्वेन।"

—अलकार सर्वस्व।

"अतिशयोक्ति बिनास्याअनत्थानात् अतएवेयमतिशयोक्त्यनप्राणितैव भवतीति सिद्धम्।"

—अलंकारसर्वस्व पर जयरथ की विमर्शनी टीका।

इन सभी के मत का सारांश यही है कि अतिशयोक्ति के बिना 'विभावना' का सिद्ध होना कदापि संभव नहीं है, अर्थात् विभावना का अस्तित्व अतिशयोक्ति पर ही निर्भर है। विभावना के उदाहरणों से इस बात की पुष्टि होती है—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टाऽपि,
परिवर्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्य घूर्णित सा।

—काव्यप्रकाश, १०।४७२

अर्थात्, यह नलिनी किसी प्रफुल्लित लता द्वारा आघात किये बिना ही पीड़ित हो रही है, भ्रमरावली के दंशन बिना ही परिवर्तित हो रही है, और लहरियों द्वारा संचालित न होने पर भी घूर्णित हो रही है। यहाँ 'आघात' आदि कारणों के बिना पीड़ित होने आदि कार्य का होना कहा गया है। अतः विभावना है और वियोगिनी नायिका की तादृश अवस्था का कमलिनी की इस अवस्था में अभेद अध्यवसाय है। अतः रूपकातिशयोक्ति, विभावना को सिद्ध कर रही है, रूपकातिशयोक्ति में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का कथन किया जाता है, यहां भी उपमेय-वियोगिनी का कथन न करके उपमान कमलिनी का ही कथन किया गया है। और—

"विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
अनन्तमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्यः"।

इसमें रमणियों द्वारा युवकों के हृदय का बिना शस्त्र के ही विदीर्ण होना कहा गया है। इसमें भी अतिशयोक्ति-अनुप्राणित विभावना है। यहां "दारयन्त्या" का अर्थ है विदीर्ण करना, फाड़ डालना, ऐसा कहने में कवि का अभिप्राय काम-जनित पीड़ा से हृदय का विकल होना है, पर हृदय में काम-जनित पीड़ा का होना न कहकर हृदय को विदीर्ण करना कहा है, अर्थात् यहां हृदय विदीर्ण करने में काम-जनित

पीडा का अभेद् अध्यवसाय किया गया है। यहा भी उपमेय (काम पीड़ा) को न कह कर उपमान (विदीर्ण करना) को ही कहा है। चतुर्वेदी जी का कहना है कि—

"वेधत अनियारे दगन बेधत करि न निषेध,
बरबस भेधत मो हियो तो नासा को वेध।"
—कविवर विहारी।

यह दोहा अतिशयोक्ति रहित विभावना का है।" पर यह चतुर्वेदीजी का भ्रम है, वास्तव में इसमें भी अतिशयोक्ति ही विभावना को जीवन दान दे रही है। "वेधन" में काम-जनित पीडा का अभेदाध्यवसाय है। यहा भी रूपकातिशयोक्ति के विना विभावना की अभिव्यक्ति नहीं होती है काव्यप्रकशादि में जो विभावना के उदाहरण हैं, उनमें यदि चतुर्वेदीजी विभावना स्वीकार करते हैं, तो कुवलयानन्द के उक्त उदाहरणों में (जिनमें वे विभावना का अभाव मानते हैं और अतिशयोक्ति वतलाते है) अगत्या विभावना ही स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि काव्यप्रकाशादि में दिये हुए उदाहरणों में और कुवलयानन्द में दिये हुये उक्त उदाहरणों में अन्तर ही क्या है? काव्यप्रकाशादि में दिये हुये उदाहरणो में यदि आप विभावना न मानकर अतिशयोक्ति मानेंगे तो अप्पय्य दीक्षित और उनके अनुयायियों को ही क्यों, आचार्य मम्मट आदि को भी मूर्खों की श्रेणी में रखना होगा।

चौथी विभावना के काव्यकल्पद्रुम में दिये हुये—

आवतु है तिल फूल तें, मलय सुगन्ध समीर,
इंदीवर दल जुगल तें, निकसत तीच्छन तीर।

इस उदाहरण के विषय में चतुर्वेदी जी कहते हैं "यूनिवर्सिटियों" में आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यकल्पद्रुम एम० ए०, बी० ए० और साहित्यरत्न आदि के हिन्दी पाठ्यक्रम में निर्धारित हैं। ऊपर लिखा छंद आपके काव्यकल्पद्रुम में चौथी विभावना से लिया गया है। इस छन्द को हम जयदेवजी की रूपकातिशयोक्ति के उत्तरार्द्ध का

अनुवाद कहें या अप्पय्य दीक्षित के रूपकातिशयोक्ति का अनुवाद कहें अथवा दीक्षितजी की विभावना का ? सहृदय पाठक ही बतलायें। आपके इस छन्द को किसका क्या समझें। हमारा निवेदन है कि "तस्माद् विश्रब्धमुपगम्यताम्"[1] अर्थात् ऊपर उल्लिखित प्रमाणों के कारण निस्सन्देह इस उदाहरण को आप विभावना का उदाहरण मान लीजिये। साहित्यिक विद्वानों को भली प्रकार विदित है कि अतिशयोक्ति, श्लेष और उपमा आदि कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनकी स्थिति प्रायः बहुत से अलंकारों में रहती है। अतिशयोक्ति के विषय में आचार्य दण्डी ने कहा है—

"अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्,
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।"
—काव्यादर्श २।२२०

ऐसी परिस्थिति में यदि जहाँ-जहाँ अतिशयोक्ति आदि की स्थिति रहती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार माने जायेंगे तो बहुत से अलङ्कारों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसलिये आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के श्लेष प्रकरण में इस विषय पर बहुत कुछ महत्वपूर्ण विवेचन किया है और निष्कर्ष रूप में—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।' इस न्याय के अनुसार कहा है कि जहाँ एक से अधिक अलङ्कार एक ही छन्द में व्यक्त हों, वहाँ जिस अलंकार का प्राधान्य हो, वहाँ वही अलंकार मानना चाहिये। अतएव 'विभावना' अलङ्कार में अतिशयोक्ति का संमिश्रण अनिवार्यतः रहता है, किन्तु अतिशयोक्ति प्रधान न रहकर विभावना के अङ्गभूत रहती है अर्थात् विभावना का प्राधान्य रहता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार काव्यप्रकाश आदि में दिये हुए विभावना के उदाहरणों में अतिशयोक्ति का संमिश्रण रहने पर भी 'विभावना' अलंकार माना गया है।

---

१ नैष्कर्म्यसिद्धि—अध्याय २।

(२)

क्या विभावना अलकार असकीर्ण हो सकता है ?

माधुरी पत्रिका (मई सन् १९४२ ई०) में "विभावना अलकार" शीर्षक जो लेख प० रघुनाथप्रसाद जी चतुर्वेदी का निकला था। उस लेख की आलोचना हमने अगस्त सन् १९४२ की माधुरी में की थी। चतुर्वेदीजी के लेख की आलोचना विद्याभास्कर प० परमानन्दजी शास्त्री साहित्याचार्य ने भी जुलाई सन् १९४२ की माधुरी में की है। विद्याभास्करजी लिखते हैं—

"हम निवेदन करना चाहते हैं कि इस विषय पर अभी और विचार किया जाय, जिससे संभव है सत्य के स्थिरीकरण में सामाजिकों को सहायता मिले।"

आपके इस अनुरोध के कारण विभावना अलकार के विषय पर कुछ पक्तियाँ और लिखी जाती हैं। विद्याभास्करजी शास्त्री ने उक्त लेख में जयद्रथवध के—

"हैं नीचे ये सब शूर पर आचार्य तुम आचार्य हो,
वर वीर विद्याविज्ञ मेरे तात-शिक्षक आर्य हो।
फिर आज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कर्म है,
मैं पूछता हूँ वीर का रण में यही क्या धर्म है?"

इस पद्य के विषय में लिखा है—"हैं नीच ये सब' . . ." इत्यादि। उदाहृत पद्य में विभावना सिद्ध की जा चुकी है। इसमें अतिशयोक्ति की गध भी नहीं है। अतः यह अतिशयोक्ति रहित विभावना का उदाहरण है।"

इस पद्य के विषय में सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि इस पद्य में 'विभावना' अलङ्कार है या नहीं ? यदि इसमें विभावना अलङ्कार ही नहीं है, तो फिर अतिशयोक्ति के होने और न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। विभावना अलङ्कार के अस्तित्व के लिये—कारण के अभाव में कार्य का होना' आवश्यक है। कारण के विना कार्य का उत्पन्न होना असमव है, अतः विभावना में कारण के विना जिस कार्य का होना कहा जाता है, उस कार्य के वर्णन में अभेद अध्यवसाय

(निगीर्ण अध्यवसाय) होता है अर्थात् बहुधा तो भेद में अभेद कथन करने वाली रूपकातिशयोक्ति रहती है, और कहीं-कहीं रूपक। निष्कर्ष यह है कि अभेद अध्यवसाय के बिना विभावना नहीं हो सकती है। कहा है—

"एवञ्चास्मिन्नलङ्कारे सर्वत्रापि कार्यांशे अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता........अथ उच्यते मास्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका। आहार्याभेदमात्रमेवानुप्राणकम् तच्च क्वचदतिशयोक्त्या क्वचिच्च रूपकेणेति न दोषः।"

—रसगङ्गाधर विभावना प्रकरण।

अर्थात् विभावना अलङ्कार के मूल में अभेद अध्यवसाय मूलक अतिशयोक्ति का होना अनिवार्यतः आवश्यक है। यदि सर्वत्र अतिशयोक्ति को विभावना का मूल कारण न माना जाय तब भी कहीं अतिशयोक्ति के रूप में और कहीं रूपक के रूप में अभेद-बुद्धि अवश्य रहती है।

शास्त्री जी ने स्वयं अपने लेख में विभावना का स्पष्टीकरण करते हुए ऊपर उद्धृत किया हुआ रसगङ्गाधर का उद्धरण देकर लिखा है—

"विभावना का चमत्कार भावना की विलक्षणता पर ही निर्भर है। विलक्षणता का जो अतिशय सर्वत्र अभेद से सम्भावित है, उसका शतांश भी कदाचित् अर्थात् भेद-भित्तिक अभेद से सम्भावित नहीं। अतएव विभावना में अतिशयोक्ति की सहयोगिता, रूपक की उपयोगिता से कहीं अधिक उपयोगी है।"

अतः स्पष्ट है कि विद्याभास्करजी भी विभावना में अभेद अध्यवसाय रूपा रूपकातिशयोक्ति के सहयोग को रूपक से भी अधिक आवश्यक समझते हैं। प्रश्न यह है कि जब जयद्रथ-वध के उक्त पद्य में अतिशयोक्ति की संकीर्णता नहीं है और इस बात को शास्त्रीजी स्वयं कहते हैं, तब इसमें विभावना अलङ्कार ही किस प्रकार हो सकता है। जयद्रथवध के उक्त पद्य में तो अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु पर द्रोणाचार्य आदि अनेक महारथियों द्वारा एक साथ ही प्रहार किये जाने पर

द्रोणाचार्य के अभिमन्यु की घृणास्पद भर्त्सना है। इसमें विभावना की गंध भी नहीं।

(३)

हमारे संख्या ७ वाले लेख की प्रत्यालोचना करते हुए पं० परमानन्दजी शास्त्री ने सितम्बर सन् १९४५ की माधुरी में एक लेख लिखा है। आपने श्रीमद्भागवत के उस उपाख्यान का उल्लेख किया है, जिसमें ब्रह्माजी द्वारा तिरोहित किये गये गोपबालकों की घटना का वर्णन है। क्या ही अच्छा होता यदि उसी प्रसङ्ग में वर्णित श्रीमद्भागवत के—"स्वयैव माययाऽजोपि स्वयमेव विमोहित।" इस पद्यार्द्ध पर आपने ध्यान देने का कष्ट उठाया होता। शास्त्रीजी लिखते हैं—

(१) "विषय सुलझा हुआ होना चाहिये। यदि भूल भुलैया का रास्ता किसी को ठीक आता है, तब वह पद पद पर दूसरे को विस्मित कर पथ-प्रदर्शन कर सकता है।"

(२) "अन्यथा स्वयमेव उस भूल-भुलैया में सदा के लिये मूढ की भाँति भटकता रहता है, और दूसरों के उपहास का भाजन बनता है।"

सम्भवतः प्रथम अंश तो शास्त्री जी ने अपने विषय में लिखा है। और दूसरा अंश हमें लक्ष्य करके लिखा है।

राजानक महिम भट्ट की उक्ति है—

> मुग्ध: किं किमसभ्यएव भजते मात्सर्य मौन नु किम्,
> पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किलजनस्तत्रेति सम्भावयेत्।
> छात्राभ्यर्थनया नतोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सतां,
> पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्य मयाङ्गीकृतम्।[१]

---

१ यदि पूछा जाने पर प्रति उत्तर न दिया जाय तो लोग समझने लगते हैं कि यह क्या मूर्ख है? या असभ्य है, अथवा मात्सर्य से मौन है। इसलिये सज्जनों का मार्ग छोड़कर मैं छात्रों के श्रम निवारण के लिये असज्जनों का मार्ग ग्रहण कर रहा हूँ। मेरा उद्देश्य किसी पर दोषारोपण का नहीं है।

अतएव शास्त्री जी ने लिखा है उसके विषय में कुछ निवेदन करना आवश्यक है। विद्याभास्करजी लिखते हैं—

"सेठ जी की आँखें न जाने जयद्रथवध के पद्य में सिद्ध की गई असंकीर्ण विभावना से क्यों तिलमिला गई, जब कि हमने—

(१) "पश्य नीलोत्पलद्वंद्वान्निस्सरन्ति सिताःशराः।" और—

(२) इन्दीवरयुगाच्चित्रं निस्सरन्ति शिलीमुखाः।"

वाद-विवाद की प्रधान इन दो रंगस्थलियों में भी असंकीर्ण शुद्ध विभावना सिद्ध की है। प्रतिस्थल पर असंकीर्ण रूप में विभावना क्यों न रह सकेगी ? ··· ···· आपने स्वयं सांकर्य माना तो माना, हमें इस दलदल में क्यों लिये जाते हैं। हमने अतिशयोक्ति की पार्थिक्येन सत्तामात्र मानी है।"

यह सत्य है कि शास्त्री जी ने अपने मत की पुष्टि में जयद्रथवध के पद्य के अतिरिक्त ऊपर वाले संख्या (१) और सं० (२) एवं सं० (३) और (४) वाले निम्नलिखित २ पद्यांश भी जुलाई सन् ४२ की माधुरी में उद्धृत किये थे। किन्तु हमने केवल एक जयद्रथ वध के पद्य पर ही दिग्दर्शन रूप में विचार प्रगट करना पर्याप्त समझा था। शास्त्रीजी ने—

"शंखाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्। (३)

"तिलपुष्पात्समायाति वायुश्चन्दनसौरभः॥ (४)

इन चार पद्यांशों के विषय में लिखा था—

"इन चारों उदाहरणों में विभावना प्रधान अलङ्कार है, अतिशयोक्ति नहीं। बात यह है कि रूपकातिशयोक्ति का विषय प्रधानतया निगीर्याध्यवसान ही है। अतः जहाँ यह निगीर्याध्यवसान प्रधान हो वहाँ वह मानी जा सकती है।" यह भी लिखा था कि—

"शंख से वीणा ध्वनि के उदय में अथवा तिलपुष्पों से चन्दन सौरभ के समागम में क्रमशः 'उदेति', 'निस्सरन्ति' तथा 'समायाति' इन क्रियापदों की प्रधानता स्पष्ट सिद्ध है। इन क्रियापदों के तथा तत्र तत्र पंचमी विभक्ति के साहाय्य से इन चारों उद्धरणों में कार्य-कारण भाव की प्रधानता अभिव्यक्त होती है। सूर्य के सद्भाव में चन्द्र की तरह विभावना के विषय में अतिशयोक्ति अलङ्कार नगण्य

हो जाता है। .... परिपोषक चाहे शुद्ध करे चाहे उसकी कृपा से वस्तु परिपुष्ट हुई हो, पर परिपोषक, परिपोष्य से प्रधान नहीं बन सकता।" —माधुरी, जुलाई सन् १९४२।

और यह भी लिखा था कि —

"पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वात्" 'निस्सरन्ति सिताःशराः'
'इन्दीवरयुगाच्छित्र निस्सरन्ति शिलीमुखा ।'

इन दोनों में दो अलङ्कार कोई नई बात नहीं, अर्थात् नीलोत्पल से नेत्र की और बाण से कटाक्ष की जो अभेद बुद्धि की गई है उस अंश में असंकीर्ण रूप से अतिशयोक्ति है, किन्तु साधारणतया कमल से बाणों के निस्सरण में असम्भव कार्य कारण भाव तदनुकूल पञ्चमी और क्रियापदों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है, अतः इतने अंश में शुद्ध विभावना है।" —माधुरी, जुलाई सन् १९४२।

शास्त्रीजी की इस व्याख्या का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि शास्त्रीजी उक्त चारों उदाहरणों में अतिशयोक्ति मानते तो हैं, परन्तु आपका कहना है कि अतिशयोक्ति नगण्य है और विभावना प्रधान है अतः विभावना ही मानना चाहिये। यह तो ठीक है, हम भी यही मानते हैं। और यह भी हम मानते हैं कि यद्यपि अतिशयोक्ति विभावना की परिपोषक है, तथापि क्योंकि वह गौण है अतः परिपोष्य से (विभावना से) प्रधान नहीं हो सकती है। किन्तु जब शास्त्रीजी यह कहते हैं कि—"नीलोत्पलद्वन्द्वान्निसरन्ति सिताःशराः" के प्रयोग में साधारणतया कमल से बाणों के निस्सरण में असम्भव कार्य-कारण भाव तदनुकूल पञ्चमी विभक्ति और क्रिया पदों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है, अतः इतने अंश में शुद्ध विभावना है" तब हमारा मतभेद उपस्थित हो जाता है। हम शास्त्रीजी से पूछते हैं कि आप जो कमलों से बाणों के निकलने के जिस अंश में कार्य-कारण सम्बन्ध होने के कारण शुद्ध विभावना मान रहे हैं, उसी अंश में क्या नेत्रों में कमलों का और कटाक्षों में बाणों का अध्यवसाय नहीं है? अर्थात् निगीर्णाध्यवसाय रूपा अतिशयोक्ति नहीं है? और क्या

उसके विना विभावना सिद्ध हो सकती है ? जिस अंश में आप शुद्ध विभावना मान रहे हैं, उसी अंश में विभावना के अस्तित्व के लिए (असम्भव कार्य-कारण भाव होने के कारण) जिस कारणान्तर की कल्पना किया जाना अनिवार्य होता है, उस कारणान्तर की कल्पना तभी हो सकेगी, जब कार्यांश में (अर्थात् नेत्रों में कमलों का और कटाक्षों में वाणों का) अभेद अध्यवसाय (रूपकातिशयोक्ति) किया जायगा। विभावना वाले अंश को अतिशयोक्ति ही जीवन प्रदान कर रही है, अतिशयोक्ति के विना आपकी विभावना व्यक्त ही नहीं हो सकती है। इस परिस्थिति में आप विभावना वाले अंश में शुद्ध विभावना किस आधार पर कह सकते हैं ? जब अतिशयोक्ति की सहायता के बिना वह सिद्ध ही नहीं हो सकती, तब शुद्ध विभावना किस प्रकार हो सकेगी।

विद्याभास्करजी एक अंश में शुद्ध विभावना मान कर दूसरे अंश में दूसरा अलंकार अर्थात् रूपकातिशयोक्ति मानते हैं। किन्तु आप स्वयं पहिले यह भी कह चुके हैं—

"न तो अतिशयोक्ति और विभावना परस्पर विरुद्ध ही हैं और न हीं एक अंश में इन्हें माना ही जा सकता है। ऐसे स्थल में जहाँ अविरोधी अलंकार उपकार्योपकारक के रूप में रहते हैं, वहाँ उनमें से किसी एक की सिद्धि के लिए आग्रह करना भी अनुचित है।" —माधुरी जुलाई सन् १९४२।

आप फिर इस कथन के निष्कर्ष रूप में लिखते हैं—

"वैषम्य-मूलक अलंकारों में अतिशयोक्ति तथा इसके सहयोगी स्वभावोक्ति एवं श्लेष का परिचय हुए विना नहीं रहता। वैषम्य-मूलक अलङ्कार ही नहीं माने जा सकते यदि उनमें वास्तविकता हो। कोई भी वैषम्य-मूलक अलंकार (विभावना भी वैषम्य-मूलक ही है) ऐसा नहीं मिल सकता, जिसमें इनकी असमान्य सत्ता का परिचय न मिलता हो।.........यदि विरोधाभास आदि में अतिशयोक्ति आदि का परिचय न हो तो इन्हें अलंकारता से ही पृथक् होना पड़ता है।" —जुलाई सन् १९४२ की माधुरी।

शास्त्रीजी से हम यह पूछते हैं कि एक ओर तो आप कमल से बाणों के निस्सरण में अतिशयोक्ति के बिना शुद्ध विभावना का होना मानते हैं और दूसरी ओर आप अतिशयोक्ति के बिना विभावनादि वैषम्य-मूलक अलंकारों में अलंकारता का होना असंभव मानते हैं। आप ही कहिये, आपका कौनसा मत प्रामाण्य समझा जाय? आप हमारे लेख में वदतोव्याघात न होने पर भी वह मानते हैं, पर क्या आपके उपर्युक्त परस्पर विरोधी मतों में वदतोव्याघात नहीं है? आश्चर्य तो यही है कि जब आप स्वयं विभावनादि में अतिशयोक्ति की सत्ता बिना अलंकारत्व नहीं मानते, तब हमारा यह कहना कि विभावना में अतिशयोक्ति या रूपक की सत्ता रहना अनिवार्य है, आपको क्यों उद्विग्न कर देता है।

शास्त्रीजी के लेख का जो अंश ("वैषम्य-मूलक अलंकारों में ") ऊपर उद्धृत किया है, उसके होते हुए भी शास्त्रीजी यह लिखने का दुःसाहस कर रहे हैं कि—

"हमें आश्चर्य है कि आपने हमारे लेख में कहाँ से यह ढूंढ निकाला कि हम भी विभावना को अनिवार्यतया संकीर्ण ही मानते हैं। हमें तो स्मरण नहीं होता था। इसलिये आप्तवाक्य की श्रद्धा से हमें अपने लेख की कई आवृत्तियाँ कीं पर जो आपकी दृष्टि में आया वह हमने खोजने पर भी न पाया। हमने तो विभावना में अतिशयोक्ति की पार्थिक्येन सत्ता मात्र मानी है।"

इसके अतिरिक्त शास्त्रीजी विभावना में अतिशयोक्ति की पार्थिक्येन सत्ता मानते हैं और साथ ही आप अतिशयोक्ति को विभावना की जीवातु प्राणप्रद भी मानते हैं। इस प्रसङ्ग में आपने मिट्टी और घड़े का उदाहरण दिया है—"मिट्टी घड़े की जीवातु होने पर भी वह घड़े का काम नहीं दे सकती"। यह ठीक है, पर प्रश्न यह है कि क्या मिट्टी के बिना घड़ा बन सकता है? क्या मिट्टी के बिना घड़े का अस्तित्व हो सकता है? क्या मिट्टी घड़े की उत्पत्ति से लेकर घड़े के रूप में अन्त तक वर्तमान नहीं है? आप विभावना में अतिशयोक्ति की पार्थिक्येन सत्ता मानकर अपनी भूल-भुलैया के चक्र में स्वयं भ्रमित

होकर दूसरों को भी भ्रम में डालने का क्यों दुस्साहस कर रहे हैं। आपके मिट्टी और घड़े के उदाहरण से ही यह सिद्ध हो रहा है कि मिट्टी की सत्ता बिना घड़े का अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार अतिशयोक्ति अथवा आहार्याभेदात्मक रूपक की सत्ता बिना विभावना का अस्तित्व भी संभव नहीं है।

शास्त्रीजी का कहना है—"पोद्दारजी केलेख में" अभेद अध्यवसाय के साथ जब पर्यायतया रूपकतिशयोक्ति शब्द आता है, तब खेद और आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।"

हमने पण्डितराज जगन्नाथ की—'सर्वत्रापि कार्यांशे अभेदाध्यवसानरूपकातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता' इस पंक्ति के आधार पर अभेदाध्यवसाय के लिये पर्यायतया रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया था। शास्त्रीजीने भी जुलाई सन् १९४२ की माधुरी में प्रकाशित अपने लेख में अभेदाध्यवसाय के लिये पर्यायतया रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग किया है। सितम्बर १९४२ की माधुरी में प्रकाशित शास्त्रीजी के लेख में भी विभावना के विवेचन में "अतिशयोक्ति अथवा अभेदाध्यवसाय के द्वारा" इस वाक्य में रूपकातिशयोक्ति के लिये अभेद अध्यवसाय का प्रयोग हुआ है। आपके द्वारा अभेदाध्यवसाय के लिये पर्यायतया रूपकातिशयोक्ति के किये गये प्रयोग के विषय में शास्त्रीजी यह न कह कर कि यह उनका स्वप्न-प्रलाप था "सुप्तोहं किल विललाप", यह कहना चाहते हैं कि "संभव है, भ्रान्ति से ही इनीगिनी पंक्तियों में अनेकवार अभेदअध्यवसाय और रूपकातिशयोक्ति पर्यायतया आगये होंगे, या कापी करते समय लगा दिये होंगे—सितम्बर १९४५ की माधुरी, पृ०, ८६।

और देखिये, शास्त्रीजी की लेखनी ने प्राचीनाचार्यों के अकाट्य सिद्धान्त पर कैसा कठोर बज्र प्रहार किया है—

"प्राचीनाचार्यों का सिद्धान्त है 'अश्लिष्टातिशयोक्तिश्चसर्वत्रैव विभावना।' अर्थात् विभावना में नियमेन अतिशयोक्ति अनुस्यूत रहती है। पण्डितराज ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। हमारी सम्मति में यहाँ अतिशयोक्ति से कुछ और ही तात्पर्य है। अतिशयोक्ति

से यहाँ अविशयोक्ति अर्थात् रूपकातिशयोक्ति नहीं लेना चाहिये।"—माधुरी, सितम्बर १९४२, पृ० ९२।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त पद्यार्द्ध में 'अतिशयोक्ति' का प्रयोग उस अतिशयोक्ति से है जो सारे अलङ्कारों में व्यापक रहती है। निस्सन्देह साधारणतया सभी अलकारों में अतिशयोक्ति व्यापक रहती है और इस वस्तुस्थिति को भामह, दण्डी और मम्मट आदि साहित्याचार्यों ने 'कोऽलकारोऽनया विना' इत्यादि वाक्यों से महत्व भी दिया है, किन्तु सारे अलकारों में सामान्यतया जो अतिशयोक्ति व्याप्त रहती है, यदि वही अतिशयोक्ति विभावना में व्याप्त रहती तो विभावना के विषय में विशेषतया उसका (अतिशयोक्ति का) उल्लेख करने की प्राचीन साहित्याचार्यों को कोई आवश्यकता ही नहीं होती। क्योंकि विभावना में विशेषतया रूपकातिशयोक्ति का सम्मिश्रण रहता है, इसीलिये प्राचीन साहित्याचार्यों ने विभावना सम्बन्धी अतिशयोक्ति के विषय में विशेषतया उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीजी की इस कल्पना का कोई वास्तविक महत्त्व नहीं है।

शास्त्रीजी विभावना में रूपकातिशयोक्ति की आवश्यकता नहीं समझते हैं, यही नहीं किन्तु आपने—"अध्यवसाय अथवा अतिशयोक्ति से श्लेषभित्तिक अध्यवसाय ही लेना चाहिये" इस वाक्य द्वारा अभेदअध्यवसायात्मिका रूपकातिशयोक्ति का अध्यवसाय और अतिशयोक्ति से ही बहिष्कार कर दिया है।

शास्त्रीजी ने सितम्बर १९४५ की माधुरी के अपने लेख में इस घडे को उदाहर "रसगगाधरकार ने अपने समय में अपनी धाक घडे का काम नहतराज जगन्नाथ को साहित्य शास्त्र से अनभिज्ञ मिट्टी के विना घ्न की है। इस विषय में सक्षिप्त में यही कहना अस्तित्व हो सकता आपातरमणीय वाक्य प्रणाली साहित्य-मर्मज्ञो रूप में अन्त तक वतन्येगिर ते विदुषा (नही, नही अविदुषा) की पार्थिक्येन सत्ता मान

अब शास्त्रीजी ने अपने लेख के अन्त में जो कुछ लिखा है उसके विषय में लिखना ही पर्याप्त होगा। अतिशयोक्ति को विभावना का जीवातु-प्राण-प्रद मानते हुए शास्त्रीजी लिखते हैं—

"हम केवल जीवित व्यक्ति पर मुग्ध नहीं होते। हम उसमें सौन्दर्य भी चाहते हैं अतः जीवातु को ही चमत्कारक मानना भ्रान्ति है।' —सितम्बर १९४५ की माधुरी।

यह सत्य है कि जीवन के साथ-साथ सुन्दरता की भी आवश्यकता है। किन्तु जब जीवन ही नहीं तब सुन्दरता कैसी। कहने का तात्पर्य यह है कि विभावना का जीवन अतिशयोक्ति पर निर्भर है यदि अतिशयोक्ति नहीं तो विभावना का अस्तित्व भी कहाँ है।

पर जब श्री विद्याभास्करजी ने सितम्बर सन् १९४५ की माधुरी के अन्तिम लेख में निष्कर्ष रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि—

"हमको ऐसे उदाहरण अर्थात जयद्रथ-वध के—'हैं नीच ये सवशूर पर आचार्य तुम आचार्य हो'·····" इस पद्य में विभावना अलंकार माना ही जाय यह आग्रह नहीं है।"

तब यह विवाद ही समाप्त हो जाता है और एतदर्थ श्री विद्याभास्करजी धन्यवादार्ह हैं—उन्होंने अपना दुराग्रह छोड़कर सत्य को स्वीकार कर लिया।

(४)

मई सन् १९४५ की माधुरी में हमने यह लिखा था कि विभावना के किसी किसी उदाहरण में स्थूल दृष्टि से रूपकातिशयोक्ति का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इस विषय पर पं० शिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस' अगस्त, सन् १९४५ की माधुरी में लिखते हैं—

'विभावना में तो कारण-कार्य के सम्बन्ध की विशेषता के साथ वर्णन होता है। उसमें उपमेय उपमान का जिक्र तक नहीं। और अतिशयोक्ति में तो उपमेय को उपमान में छिपाया जाता है।'

शुक्लजी का कहना ठीक है। विभावना और अतिशयोक्ति का विषय वास्तव में भिन्न भिन्न है। विभावना का ही क्यों, प्रत्येक

अलङ्कार का उसके लक्षण के अनुसार पृथक् पृथक् विषय होता है। तथापि एक अलङ्कार के उदाहरण में किसी दूसरे अलङ्कार की संकीर्णता अर्थात् सम्मिश्रण प्राय. होता है। जहाँ अनेक अलङ्कारों का सम्मिश्रण होता है वहाँ कहीं कहीं एक अलङ्कार प्रधान होता है और शेष एक या एक से अधिक गौण रूप मे प्रधान अलङ्कार के अगभूत रहते हैं। कुछ अलङ्कार ऐसे हैं जो किसी दूसरे अलङ्कार के सहयोग के बिना अभिव्यक्त ही नहीं हो सकते हैं। विभावना भी इसी श्रेणी का अलङ्कार है। 'विभावना' अभेद अध्यवसाय मूलक रूपक या उपमेय को उपमान में छिपाने वाली अतिशयोक्ति क बिना व्यक्त नहीं हो सकता है। विभावना का अस्तित्व ही अभेद अध्यवसाय वाले अलकार रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति पर निर्भर हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि विभावना में अतिशयोक्ति की स्थिति सर्वत्र रहने पर भी बहुत से उदाहरणों में उसकी स्थिति साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों को ही प्रतीत हो सकती है, और किसी किसी उदाहरण में स्पष्ट भी प्रतीत होती है। जहाँ विभावना के साथ रूपकातिशयोक्ति स्पष्ट दीख पड़ती है, वहाँ स्थूल दृष्टि से रूपकातिशयोक्ति का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। जैसे—

आवत है तिल फूल में मलय-सुगन्ध समीर।

कुवलयानन्द में विभावना के उदाहरण में दिये हुए 'तिलपुष्पात्समायाति वायुश्चन्दनसौरभ' का यह अनुवाद है। इसमें तिल के फूलों से मलय मारुत की गध आना कहा गया है। मलय-मारुत की गंध का वास्तविक कारण मलयगिरि के चन्दन वृक्ष हैं। किन्तु यहाँ उनके बिना (मलय गिरी के चन्दन वृक्ष के बिना) तिल-फूल से मलय की सुगन्धित वायु का आना कहा गया है, अतः स्पष्ट ही विभावना अलङ्कार है। नासिका को तिल के पुष्प की उपमा दी जाती है। अतः नासिका उपमेय और तिल पुष्प उपमान है। यहाँ नायिका की नासिका को ही तिल फूल कहा गया है, पर उपमेय नासिका का कथन नहीं किया गया है। केवल नासिका के उपमान तिल-पुष्प का ही कथन है, अर्थात् उपमेय को उपमान में छिपाया गया है। अत. रूप-

कातिशयोक्ति भी यहाँ स्पष्ट ही प्रतीत होती है। विभावना के इस प्रकार के उदाहरणों में वस्तुतः विभावना की प्रधानता होने पर भी स्थूल दृष्टि से रूपकातिशयोक्ति का भ्रम होता है यहाँ नायिका की नासिका में जो तिल-पुष्प का अभेद अध्यवसाय है, अर्थात् रूपकातिशयोक्ति है, उसीसे विभावना अलङ्कार व्यक्त होता है, उसके विना विभावना अलङ्कार व्यक्त ही नहीं हो सकता है।

और—

करतु विदारन सस्त्र बिनु युवक जनन के हीय,
हावभाव तरुनीन के हैं विचित्र रमनीय।

इसमें शस्त्र रूप कारण के विना युवकों का हृदय-विदीर्ण किये जाने रूप कार्य का होना कहा गया है, अतः विभावना है। इसमें भी रूपकातिशयोक्ति का सहयोग है। इस का स्पष्टीकरण पहिले किया जा चुका है। ऐसे उदाहरणों में स्थूल दृष्टि से अतिशयोक्ति का भ्रम नहीं होता है।

श्री शुक्लजी ने कारणातिशयोक्ति के भेद अक्रमातिशयोक्ति एवं चपलातिशयोक्ति और विभावना के उदाहरण देकर अपने प्रश्न का स्पष्टीकरण किया है। किन्तु वह अप्रासंगिक है, क्योंकि अतिशयोक्ति के इन भेदों के साथ विभावना का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। केवल रूपकातिशयोक्ति ही विभावना में रहती है। इसके सिवाय शुक्लजी ने जो विभावना के उदाहरण दिये है, वे विभावना के उदाहरण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उन उदाहरणों में अतिशयोक्ति का सहयोग नहीं है। अतिशयोक्ति के सहयोग विना विभावना हो ही नहीं सकती है। यह बात हमारे विभावना विभ्राट संख्या १, २ और ३ के निबन्धों से स्पष्ट होती है। अतः इस विषय पर अधिक लिखना पिष्ट-पेषण मात्र है।

(५)

विभावना के विषय में फरवरी सन् १९४६ की माधुरी में कविराज श्री रघुनन्दनजी शास्त्री, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, डी० आई० एम० एस० प्रोफेसर ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार का

'विभावना विचार, शीर्षक लेख निकला है। उस लेख में कविराजजी ने विभावना-विषयक मई सन् १६४५ एव अक्टूबर सन् १६४५ की माधुरी में प्रकाशित हमारे सख्या ३ और सख्या ४ के लेखों की आलोचना की है।

आपका प्रथम आक्षेप यह है—

"पोद्दारजी काफी लकीर पीटने पर भी पर्याप्त शास्त्रोक्रमण करने पर भी श्री चतुर्वेदीजी (श्री रघुनाथप्रसादजी जिनका लेख मई सन् १६४२ की माधुरी में निकला था) के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके .... इनमें वही कहा गया है कि विभावना में अतिशयोक्ति या रूपक अवश्य रहते हैं। विभावना की सिद्धि अतिशयोक्ति या रूपक पर ही निर्भर है। पर प्रश्न यह नहीं था, प्रश्न तो यह था कि विभावना और अतिशयोक्ति में क्या अन्तर है। यह तो चतुर्वेदीजी ही कह रहे हैं कि अतिशयोक्ति, विभावना के उदाहरण में रहती है। पोद्दारजी ने क्या नई बात कही ? बतलाना यह चाहिये था, कि विभावना की प्रधानता क्यों रहती है ?"

खेद है कि कविराजजी ने चतुर्वेदीजी के लेख को ध्यानपूर्वक पढने का कष्ट नहीं उठाया, नहीं तो वे यह कभी नहीं लिखते कि—"यह तो चतुर्वेदीजी कह रहे हैं विभावना के उदाहरणों में अतिशयोक्ति रहती है"। चतुर्वेदीजी ने अपने उक्त लेख में स्पष्ट लिखा है—"जो उदाहरण कुवलयानन्द में और उसका अन्धानुसरण करके हिन्दी ग्रन्थों में विभावना के दिये गए हैं उनमें अतिशयोक्ति है—न कि विभाविभावना"। और न चतुर्वेदीजी ने यह प्रश्न ही किया था कि विभावना की प्रधानता क्यों रहती है[1]। हमारा निवेदन है कि कविराज जी पुनः चतुर्वेदीजी के लेख को पढने का कष्ट उठायें। हाँ, यदि कविराज जी स्वय उक्त प्रश्न करते हैं तो इसका उत्तर हमारे पूर्व लेखों द्वारा उनको मिल जायगा। प० परमानन्दजी शास्त्री के पाण्डित्य पर कविराजजी मुग्ध हैं अतएव उक्त प्रश्न का उत्तर आपको शास्त्रीजी के लेख द्वारा (जो जुलाई १६४७ ई० की माधुरी में प्रकाशित हुआ था[2])

१—देखिये, चतुर्वेदीजी का लेख पृ० ४५

२—देखिये, प० परमानन्दजी शास्त्री का लेख पृ० ५२

भी संतोषजनक मिल सकता है। कुवलयानन्द आदि में दिये हुए जिन चार उदाहरणों को शास्त्रीजी ने उद्धृत किया है उनमें से एक उदाहरण 'तिलपुष्पात् समायाति वायुश्चन्दन सौरभः' (अथवा, आवतु है तिल-पुष्प तें मलय सुगंध समीर) यह है और इसके विषय में शास्त्रीजी लिखते हैं—"ये चारों उदाहरण विभावना के ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि, अतिशयोक्ति निगीर्ण-प्रधान है और विभावना कार्य–कारण–प्रधान। शब्दों की अपेक्षा वाक्य बलवान होता है और वाक्य में क्रिया की प्रधानता रहती है। तिल पुष्प से चन्दन-सुरभि के समागम में 'समायाति' आदि क्रियाओं की प्रधानता है, इस क्रियापद के तथा पंचमी विभक्ति के साह्य से इन उदाहरणों में कार्य-कारण की प्रधानता अभिव्यञ्जित होती है। यदि इनमें निगरण का ही परिपोष होता तो यहाँ अतिशयोक्ति की संभावना की जाती अतः कार्य-कारण के परिपोषक के कारण यहाँ विभावना ही युक्ति-युक्त है।"

विभावना की प्रधानता क्यों रहती है और 'विभावना' और 'अतिशयोक्ति' में क्या अन्तर है। इन प्रश्नों का उत्तर, आशा है, कविराजजी को शास्त्रीजी के लेख के इस उद्धरण से मिल जायगा।

(२) कविराजजी का दूसरा आक्षेप है—"पोद्दारजी जब कि मई १९४५ के लेख में प्रत्येक विभावना को अतिशयोक्ति से संकीर्ण मानते हैं, पर ६ महिने के बाद (अक्टूबर १९४५ के लेख में) विभावना के किसी किसी उदाहरण में ही अतिशयोक्ति मानने लगे।"

निवेदन है कि जिस प्रकार आपने चतुर्वेदीजी के लेख को ध्यान पूर्वक नहीं पढ़ा, उसी प्रकार हमारे उस अक्टूबर सन् ४२ वाले लेख को भी पढ़ने का आपने कष्ट नहीं उठाया। हमने छः महिने पहिले जो बात कही थी, वही छः महिने बाद कही है। अर्थात् विभावना में अनिवार्यतः अतिशयोक्ति या रूपक रहते हैं। हाँ, किसी उदाहरण में स्थूल-दृष्टि से देखने पर विभावना के स्थान में केवल अतिशयोक्ति का भ्रम हो जाता है।

(३) कविराजजी का तीसरा आक्षेप है—

"जैसी अतिशयोक्ति उन्होंने (अर्थात् हमने)–आवतु है तिल-फूल ते मलय सुगन्ध समीर–अन्तिम लेख में निकाली है, वैसी ही

बेचारे शुक्लजी के उदाहरण में भी हूबहू दिखाई दे रही है, जरा मिला कर देखिए—'आवतु है तिलफूलते मलय सुगध समीर। और शुक्लजी का दिया हुआ—

'हीराद्युति दमकति मनो कमल रंग सुखदेत।'

इन दोनों को जरा गौर से एक साथ दो चार बार पढ़िये और कहिए क्या एकमी नहीं हैं? तिल के फूल से चन्दन की सुगंध निकलने में जो अतिशयोक्ति काम कर रही है, वही तो यहाँ भी कमल से हीरा की द्युति निकाल रही है। पर उन्होंने (अर्थात् हमने) इसमें अतिशयोक्ति नहीं बतलाई।

खेद है कि कविराजजी ने शुक्लजी के लेख को भी समझने का कष्ट नहीं उठाया। कविराजजी आप क्या कह रहे हैं, हमने तो स्पष्ट रूप में शुक्लजी के उक्त उदाहरण में विभावना का निषेध किया है। हमारा यह कहना है कि इसमें अतिशयोक्ति की व्याप्ति होने पर भी 'मनो' के प्रयोग के कारण इसमें उत्प्रेक्षा की प्रधानता हो गई है। जिस प्रकार कार्य कारण की प्रधानता में अतिशयोक्ति की स्थिति में विभावना प्रधान हो जाती है, उसी प्रकार इसमें 'मनों' के प्रयोग द्वारा उत्प्रेक्षा प्रधान है।

श्रीकविराजजी ने हमारे लेखों के विषय में यह लिखा है—

"आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे।" परन्तु यह उक्ति हमारे लेख के सम्बन्ध में घटित होती है, अथवा कविराज जी के लेख पर, इसका निर्णय काव्य ममज्ञ विद्वान उपरोक्त विवेचन से स्वय कर लेंगे।

कविराजीजी ने लेख के उपान्त में लिखा है—"विद्याभास्कर प० परमानन्दजी शास्त्री व्याकरणाचार्य हैं, साहित्याचार्य हैं, पंजाब विश्वविद्यालय के ओरिन्टियल कालेज लाहौर के अपने विषय के माने हुए विद्वान् हैं, उसके लेख पर आश्चर्य करना शोभा प्रद नहीं।"

श्री कविराजजी और विद्याभास्कर जी दोनों ही हमारे श्रद्धेय हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके भ्रान्त विचारों को आप्त वाक्य मानकर अनालोच्य समझा जाय—

"दोषावाच्या गुरोरपि।"

भक्ति 'रस' है या 'भाव' ?

भरतादिक ने भक्ति विषय में किया कहीं कुछ भी न निदान,
मम्मट ने कर दिया भक्ति का जब भावों में अन्तर्धान।
उनके अनुगत हुए सभी हैं किन्तु भक्ति-रस सर्व प्रधान,
इस निबन्ध में किया गया है यही विवेचन सहित प्रमाण।

रस

रस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री भरत मुनि ने 'रस' के सम्बन्ध में लिखा है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

इस सूत्र के अनुसार 'रस' की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होती है। लोक व्यवहार में रति (प्रेम) हास्य और शोक आदि चित्त की वृत्तियों या मनोविकारों के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, इनको (कारण, कार्य और सहकारी कारण को) काव्य और नाटक में रति, हास्य और शोक आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कह कर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। और उन विभावादिकों द्वारा परिपुष्ट होकर जो स्थायी भाव व्यक्त होता है वही रस है।

स्थायी भाव—रति (प्रेम), हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और निर्वेद ये क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शांत रस में स्थायी भाव होते हैं। ये 'रति' आदि स्थायी भाव एक विशेष प्रकार के मनोविकार हैं, इन्हीं को काव्य-नाटकों में स्थायी भाव कहते हैं।

विभाव—'रति' आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति के जो कारण होते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन विभाव—जिनको आलम्बन करके रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, उनको आलम्बन विभाव कहते हैं। जैसे धनुष भग के प्रसंग में भगवान् रामचद्र और परशुरामजी के सम्वाद में रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध के आलम्बन-विभाव धनुष-भङ्ग करने वाले श्री रामचन्द्र हैं।

उद्दीपन विभाव—रति आदि स्थायी भावों का जिस के द्वारा अतिशय उद्दीपन होता है, उसको उद्दीपन भाव कहते हैं। जैसे धनुष-भग के प्रसग में धनुष का भंग होना, और परशुरामजी के वाक्य आदि, परशुरामजी के क्रोध को उत्तेजित करते हैं अतः उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव—विभाव के पश्चात् जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। जैसे धनुष-भग के कारण परशुरामजी के हृदय में जो क्रोध (अर्थात स्थायी भाव) उत्तेजित होता है, उसका अनुभव भ्रू-भग आदि चेष्टाओं द्वारा होता है। अत इन चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। महाराज जनक आदि को परशुराम जी के क्रोध का अनुभव उन चेष्टाओं द्वारा ही होता है। अनुभाव अगणित होते हैं।

व्यभिचारि भाव—चित्त की चिन्ता आदि भिन्न भिन्न वृत्तियों को व्यभिचारि या सञ्चारि भाव कहते हैं। व्यभिचारि भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। व्यभिचारि भाव सभी रसों में यथा संभव सञ्चार करते रहते हैं। ये रस की सिद्धि तक अर्थात अत तक स्थिर नहीं रहते हैं—अवस्था विशेष में उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन पूरा करकर—स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं।

रसों की संख्या—श्री भरत मुनि के मतानुसार प्राय सभी आचार्यों ने ९ रस माने हैं।

भाव।

यों तो स्थायी भाव, अनुभाव और व्यभिचारि भाव, 'भाव'

ही कहे जाते हैं। किन्तु रस के साथ जिस 'भाव' शब्द का प्रयोग होता है, वह भाव सञ्ज्ञा, स्थायी एवं व्यभिचारि भावों की एक विशेष संज्ञा है। और स्थायी और व्यभिचारि भावों को यह विशेष 'भाव' संज्ञा किस अवस्था में प्राप्त होती है, इसके विषय में आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लिखा है—

"रतिदेवादिविषया व्यभिचारितथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः।"

अर्थात् (१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ रति (प्रेम) के आलम्बन होते हैं या यों कहिये कि जहाँ उनके विषय में यथा योग्य भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्य भाव, वात्सल्य और स्नेह होता है, वहाँ उस रति की, चाहे वह विभावादि से पुष्ट हो अथवा अपुष्ट, 'भाव' संज्ञा है। और—

(२) जहाँ रति आदि भाव उद्बुद्ध हो अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों से वह परिपुष्ट न किये गये हों, वहाँ भी रति आदि स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा है। तथा—

(३) निर्वेद आदि व्यभिचारि भाव जहाँ प्रधानता से व्यञ्जित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ व्यभिचारि भावों की भी भाव संज्ञा है।

जब 'रति' स्थायी भाव की अवस्था में, विभावादि से परिपुष्ट होकर रस में परिणत हो जाती है तब उसे शृङ्गार रस माना है। निष्कर्ष यह है कि रति की जो अवस्था भेद से रस और भाव दो संज्ञाएँ हैं, उसका कारण आलम्बन-भेद है। अर्थात् जहाँ 'रति' (प्रेम) के आलम्बन परस्पर में अनुरक्त स्त्री पुरुष होते हैं, उस विभावादि से परिपुष्ट रति को शृङ्गार रस की संज्ञा दी गई है। और जहाँ 'रति', देवता, गुरु और पुत्रादि के विषय में होती है अर्थात् देव, गुरु, पुत्र आदि प्रेम के आलम्बन होते हैं, वहाँ उसी 'रति' को 'भाव' संज्ञा दी गई हैं। और 'देव' विषयक जो 'रति' (प्रेम) भाव है उसे भक्ति कह सकते हैं।

यह विचारणीय है कि देव-विषयक रति को (अर्थात् भक्ति को) सर्व प्रथम 'भाव' संज्ञा कब और किसके द्वारा दी गई है? जहाँ तक हमने अनुसंधान किया है, साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में सबसे

प्रथम आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'देवादि विषयक र
भाव' के अन्तर्गत भक्ति को 'भाव' संज्ञा दी है। मम्मट के पूर्ववर्ती
सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्य श्री भरत मुनि के नाट्य शास्त्र
'देवविषयक रति' के अर्थात् भक्ति के विषय में कुछ भी उल्ले
नहीं है। सम्भवतः भरत मुनि ने भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत मा
हो। क्योंकि उन्होंने शान्त रस से ही रति आदि अन्य भावो
अथवा शृङ्गार आदि सभी रसों की उत्पत्ति और अन्त में 'शान्त' र
में ही सब रसों का विलीन होना माना है—

'स्वं स्व निमित्तमादाय शान्ताद्भावः प्रवर्तते,
पुनर्निमित्तापाये च शान्तएवोपलीयते।'',

—नाट्य शास्त्र ६, १०

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी नाट्य शास्त्र की व्या
'अभिनव भारती' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है —

'तत्त्व ज्ञान तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीय सर्व स्थायीभ्यः स्थायितममिति।

—पृ० ३३

अर्थात् तत्वज्ञान तो सम्पूर्ण भावों की भित्तिस्थान रूप
अतः सभी स्थायी भावो में स्थायीतम है। भरतमुनि द्वारा भक्ति र
को पृथक् न मानने के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का कहना
कि ससार से वैराग्य उत्पन्न होना आदि शान्त रस के जो विभा
मोक्ष शास्त्र का चिंतन आदि अनुभाव और निर्वेद, मति, स्मृति, धृ
आदि व्यभिचारि भाव है, वे ही स्मृति, मति, धृति एव उत्साह आ
भक्ति-रस के भी व्यभिचारि होते हैं, और ये शान्त रस के अन्तर्ग
हैं यही कारण है कि भरतमुनि ने भक्ति को पृथक् रस नहीं माना है[१]

किन्तु, आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम.।

—ध्वन्यालोक २।३

इस कारिका को अविकल उद्धृत करके उसमें 'भाव' श

१ देखो, अभिनवभारती व्याख्या, गायकवाड़ सीरीज, पृ० ३३४–३४०

की व्याख्या में भक्ति को देव-विषयक-रतिभाव के अन्तर्गत मान लिया है—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारीतथाञ्जितः । भावः प्रोक्तः ।'

—काव्यप्रकाश ४।३५

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में श्री अभिनवगुप्ताचार्य के लिये बड़े आदर के साथ—'श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः' का प्रयोग किया है और उनके मत का सिद्धान्तरूप से रस प्रकरण में उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न होता है कि जब आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत मुनि के मतानुसार भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत बताया है, फिर आचार्य मम्मट ने उनके इस मत को स्वीकार न करके 'भक्ति' को 'भाव' संज्ञा क्यों प्रदान की है ? प्रश्न वस्तुतः बड़ा मार्मिक और जटिल है। सम्भवतः इसका यह कारण था कि आचार्य मम्मट अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त रखते थे। वे केवल साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान ही नहीं थे, किन्तु उत्कट समालोचक भी थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने काव्यप्रकाश के, काव्य के दोष प्रकरण में, अपने पूर्ववर्ती कालिदास आदि सुप्रसिद्ध महाकवियों के काव्यों के दूषणों का निस्संकोच उद्घाटन किया है। आचार्य मम्मट ध्वनिकार को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे और उनके मतानुयायी भी थे। तथापि आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार का दासवत् अनुसरण नहीं किया। रसों के विरोधाविरोध प्रकरण में ध्वनिकार ने लिखा है—

'विनेयानुन्मुखी कर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदंगानां न दुष्यति ।'

—ध्वन्यालोक ३।२६

अर्थात् सुकुमारमति राजकुमार आदि को मधुरता पूर्वक शिक्षा देने के लिये यदि शृङ्गार रस में उसके विरोधी रस का समावेश किया जाय तो दोष नहीं होता है। इसके उदाहरणरूप में ध्वनिकार द्वारा दिये गये—

'सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः,
किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम् ।'

इसी पद्य को उद्धृत कर आचार्य मम्मट ने ध्वनिकार की इस प्रकार आलोचना की है—

'ननु विनेयोमुखीकरणमात्र परिहार ।'

निष्कर्ष यह है कि आचार्य मम्मट ने भक्ति का शान्त रस के अन्तर्गत समावेश होना उचित नहीं समझा और इसीलिये उन्होंने आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण नहीं किया।

भरत मुनि महाभारत के पूर्व कालीन थे। वह औपनिषद् काल था। उस समय सम्भवत भक्तिवाद प्रधान नहीं था अतएव भरत मुनि ने भक्तिरस को कोई महत्व नहीं दिया। परन्तु आचार्य मम्मट के समय में भक्तिवाद का प्रचुर प्रचार हो चुका था और सभवतः यही कारण था कि आचार्य मम्मट को साहित्य दृष्टि से भक्ति को पृथक् रस मानना आवश्यक प्रतीत हुआ। और उन्होंने शान्त रस के स्थायी भाव 'शम' या 'वैराग्य'' आदि को भक्ति के अनुकूल न समझकर 'भक्ति' को शान्त रस के अन्तर्गत माना जाना भी उचित नहीं समझा और साथ ही उन्होंने भरत मुनि द्वारा निर्धारित रसों की नो सख्या की मर्यादा को भी उल्लङ्घन करना उचित नही समझा। इसीलिये उन्होंने 'देव-विषयकरति' (भक्ति) को भावों के अन्तर्गत मानना उचित समझा। परिमाण यह हुआ कि गतानुगतिक न्याय के अनुसार आचार्य मम्मट के आदर्श पर उनके परवर्ती सभी साहित्याचार्य भक्ति को भाव ही मानते चले आये हैं।

इस विषय पर रसगगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा किये गये विवेचन से भी यही सिद्ध होता है। उन्होंने ने पहिले तो यह पूर्वपक्ष उठाया कि भक्ति को स्वतत्र रस क्यों नहीं माना जाय? यदि भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट नौ रसो की सख्या में परिवर्तन किया जाना उचित न समझा जाय तो कामिनी विषयक रति के स्थान पर भक्ति को नौ रसों में और कामिनी विषयक रति को भावों में स्थान क्यों न दिया जाय? फिर इसके उत्तर में पण्डितराज ने यही कहा है कि ऐसा परिवर्तन करने में भरतमुनि द्वारा निर्धारित रस और भावों की व्यवस्था का उल्लङ्घन किया जाना उचित नहीं—

"भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थास्थापकत्वेन स्वातंत्र्यायोगात् ।......रसानां नवत्वगणनाच्च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत ।" —रसगंगाधर पृष्ठ ५०

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि, भक्ति को पृथक् रस न मानने का और उसे भाव के अन्तर्गत मानने का एक मात्र कारण साहित्यक परिपाटी अथवा रूढ़ि मात्र है। वास्तव में शृङ्गारादि रसों की अपेक्षा—

'भक्ति' सर्वोपरि प्रधान रस है।

"रसोवैसः" रसह्येवायं लब्धानन्दी भवति। आनन्दाद् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रथयन्यमिसंविशन्ति।"

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों द्वारा और भगवान् वेदव्यास के—

'अक्षरं ब्रह्मपरमं सनातनमज विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्
आनन्दसहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्ति सा तस्य चैतन्य चमत्काररसाह्वयाः।

इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मानन्द को ही रस के रसत्व का मूल आधार सभी साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। साहित्याचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द के समान माना है। उनका मत है कि अज्ञान रूप आवरण से रहित जो चैतन्य है, उससे युक्त रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है। अथवा उपर्युक्त श्रुतियों के अनुसार रति आदि से युक्त और आवरण से रहित चैतन्य का नाम ही रस है—

"इत्थमभिनवमम्मटभट्टादिग्रंथस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिस्थायिभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाण श्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेवरसः।"

विचारणीय यह है कि क्या शान्तरस के समान भक्ति-रस ब्रह्मानन्द सहोदर नहीं है ? इस विषय में अद्वैत सिद्धि (वेदान्त ग्रंथ) के प्रणेता परमहंस परिव्राजक श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्
तस्मात् भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्।
—भक्ति रसायन।

अर्थात् समाधिजन्य ब्रह्मानन्द और भक्तिरसानन्द समान है। यह तो हुआ, अद्वैत वीथी के पथिक अव्यक्तोपासकोंका मत। और इस रसानन्द के अनुभवी ध्रुव कहते हैं—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म—
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वास्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्।
किं त्वन्तकासिलुलितात्पतता विमानात्॥
—श्री मद्भागवत, ४।६।१०

अर्थात् हे नाथ शरीरधारियों को आपके पादारविन्द के ध्यान द्वारा जो परमानन्द उपलब्ध होता है, अथवा आपके भक्तों से आपके कथा श्रवण द्वारा प्राप्त होता है, वह परमानन्द समाधि जन्य ब्रह्मानन्द में भी प्राप्त नहीं हो सकता है, फिर काल रूपी खड्ग से कटकर गिरते हुए विमान से गिरने वाले स्वर्ग-वासियों को तो उपलब्ध ही कहाँ हो सकता है। इसी प्रकार वृत्रासुर के प्रति स्वर्गाधिप इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्ति र्भगवति हरौ निश्श्रेयसेश्वरे
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रै खातकोदकै।
श्री मद्भागवत, ६।१२।२२

श्री मद्भागवत के अनेक प्रसङ्गो में भक्ति रसानन्द को ब्रह्मानन्द से बढकर कहा गया है। अविद्याग्रन्थियों से निर्मुक्त आत्माराम मुनिजनों को भी भक्ति रसानन्द बलात अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे,
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।' १।७।१०

अतएव निर्विवाद सिद्ध होता है कि भक्ति रसानन्द सर्वोपरि

है। इसके अतिरिक्त शृङ्गारादि अन्य रसों के स्थायी भाव और विभावादि लौकिक होते हैं, किन्तु भक्ति रस के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी सभी अलौकिक होते हैं। भक्ति रस के—

स्थायी भाव—भगवद् विषयक अनुराग (रति) अलौकिक है।

आलम्बन विभाव—भगवान राम कृष्ण आदि के अखिल विश्वसौन्दर्यनिधि दिव्य विग्रह अलौकिक हैं।

अनुभाव—भगवान् के अनन्य प्रेम-जन्य अश्रु, रोमाञ्च आदि अलौकिक हैं।

व्यभिचारि भाव—हर्ष, और सुख, आवेग, चपलता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य धृति, स्मृति और मति आदि अलौकिक हैं। कहा है—

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तयाक्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलोकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।
श्रीमद्भागवत १।३।३२

दुःख और आश्चर्य है कि जिन सादृयाभास शृङ्गारादि रसों में चिन्दानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' संज्ञा दी गई है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्ति-रस है, उसे 'रस' न मानकर 'भाव' माना गया है। यही क्यों क्रोध, भय, और जुगुप्सा आदि स्थायी भावों को (जो प्रत्यक्षतः सुख-विरोधी हैं) रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स 'रस' की संज्ञा दी गई है।

यदि यह कहा जाय कि भगवद्विषयक प्रेम में आनन्द होने का क्या प्रमाण? इसका यही उत्तर है कि शृङ्गारादि रसों के आस्वादन के प्रमाण के लिये साहित्याचार्य अनुभवी सहृदयजनों की ओर संकेत करते हैं, उसी प्रकार हमारा अनुरोध है कि यदि आपको शास्त्र-प्रमाणों से सन्तोष नहीं होता है, तो भक्ति रसास्वाद के लिए आप तदीय भक्त-जनों से पूछिये और उन महानुभावों के सत्सङ्ग द्वारा आप स्वयं भी प्रत्यक्ष अनुभव करिये।

गोस्वामी तुलसीदास और कालिदास

तुलनात्मक समीक्षा

कालिदास जो कवि शेखर थे सुप्रसिद्ध शृंगार प्रधान,
रामभक्त गोस्वामी तुलसी थे विरक्त विख्यात महान्।
उनकी शृंगारिक कृतियों का तुलनात्मक संक्षिप्त विचार—
किया गया है सहृदय जनों के मन-रञ्जन को मति अनुसार॥

गोसाई जी की काव्य-प्रतिभा भक्ति, ज्ञान और वैराग्य विषयक वर्णन में तो प्रधानतया विद्यमान है ही, किन्तु उनकी सर्वतोवाही सरस्वती का वर्णनातीत महत्व तो यह है कि उनका शृङ्गार रस-प्रधान वर्णन भी बड़ा ही रोचक और चित्ताकर्षक है। गोसाई जी का जैसा सेव्य सेवक भाव अपने उपास्यदेव भगवान् रामचन्द्र में था, उसी के अनुरूप उनके द्वारा उनका शृंगारात्मक वर्णन मर्यादोचित किया जाने पर भी अत्यन्त हृदयग्राही है। उनके शृंगारात्मक वर्णन की तुलना के लिये संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कवि कालिदास ही हो सकते हैं। अर्थात् संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों में जैसे कालिदास अग्र गण्य हैं, उसी प्रकार हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों में पूज्यपाद गोसाई जी सर्व प्रधान हैं। गोसाई जी श्री रामोपासक, अनन्य राम भक्त एवं रामचरित निष्णात थे। महाकवि कालिदास तादृश रामोपासक और अनन्य भक्त न होने पर भी रामचरित निष्णात अवश्य थे। कालिदास के काव्यों के अध्ययनशील विद्वानों से यह बात अज्ञात नहीं है, कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित भाव और सूक्तियों का सादृश्य कालिदास के ग्रन्थों में स्पष्ट दृष्टिगत होता है[१]।

कालिदास के शृङ्गार वर्णन की शैली लोकोत्तर है। शृङ्गार-रस के विभावादि के साक्षात् प्रदर्शन में उन्होंने कुछ भी त्रुटि नहीं रक्खी

१ देखो इस ग्रन्थ में 'भावार्थ साम्य' शीर्षक निबन्ध और कालिदास का 'काव्य-वैचित्र्य' निबन्ध।

है। वे शृङ्गारिक कवि थे, शृङ्गार-रस ही उनके वर्णन का प्रधान विषय था। काव्य-मर्मज्ञों का कहना है कि कालिदास केवल शृङ्गारात्मक वर्णन में ही सिद्ध हस्त थे। वे शृङ्गारातिरिक्त रसों के वर्णन में तादृश सफलता उपलब्ध नहीं कर सके। कालिदास ही क्यों, संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध कवियों के विषय में भी यही बात है। महाकवि भवभूति केवल करुणा-रस के वर्णन में ही प्रधानता प्राप्त कर सके हैं। इसी प्रकार वीर-रस के वर्णन में महाकवि भास अग्रगण्य समझे जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि जिस कवि को जो रस अभीष्ट था उसी के वर्णन में वह पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सका है। महात्मा तुलसीदास, विरक्त तुलसीदास, अनन्य रामभक्त तुलसीदास, भव प्रपंच से अतीत तुलसीदास, जिनके वर्णन का एकमात्र प्रधान विषय भक्ति ही था। उनके द्वारा शृङ्गार रस का अपूर्व वर्णन होना और वह भी अपने इष्टदेव भगवान् रामचन्द्र एवं जगज्जननी जानकी जी का और उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करना निस्सन्देह बड़े महत्व का विषय है। महाकवि कालिदास ने भी अपने इष्ट उमा-महेश्वर का "कुमारसम्भव" काव्य में चरित्र चित्रण किया है। उस चरित्रचित्रण के विषय में विद्वानों का कहना है कि कालिदास साहित्याकाश को अपनी अलौकिक प्रभा से चमत्कृत करने वाला सुधांशु-पीयूषस्पन्दिनी कला विशिष्ट चन्द्रमा है। किन्तु अनेक विद्वान् समालोचकों ने उस सुधांशु में आकाश-स्थित सुधांशु के समान कलङ्क भी आरोपण किया है। कालिदास ने अपने उपास्य श्री उमा-महेश्वर का शृङ्गारात्मक वर्णन मर्यादातीत किया है इसीसे काव्यप्रकाश-प्रणेता: साहित्य के प्रधान आलोचक, आचार्य मम्मट ने कालिदास के अनेक वर्णनों को दूषित शृङ्गार-वर्णन की श्रेणी में माना है। किन्तु गोसाईं जी ने अपने इष्टदेव भगवान् रामचन्द्र और जगज्जननी जनकनन्दिनी का जो शृङ्गारात्मक वर्णन किया है, वह सर्वथा निर्दोष है। फुलवारी प्रसंग के पूर्वानुराग में शृङ्गार रस के विभादिकों की अलौकिकता का उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया है। उस प्रसंग की एक एक चौपाई के अर्थानुभव में जो आनन्द उपलब्ध होता है वह अवर्णनीय है। जिस प्रकार ब्रह्मज्ञानी जनों को ब्रह्मानन्द केवल समाधिगम्य है, उसी प्रकार यह आनन्द भी केवल

भक्तजनों एवं साहित्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों को ही अनुभवगम्य है। रामचरितमानस में वर्णित शृङ्गार में यही विशेषता है कि वह सर्वथा निर्दोष है, उसमें कहीं भी सीमोल्लङ्घन नहीं है। देखिए—

गोसाईंजी भगवान् रामचन्द्र को लक्ष्मण जी के साथ और जनकनन्दिनी को सखियों के साथ महाराजा जनकजी की पुष्पवाटिका में भेजते हैं। पर स्वतन्त्रता या स्वेच्छाचारिता से पर्यटन के लिये नहीं किन्तु—

समय जानि गुरु आयसु पाई, लेन प्रसून चले दोउ भाई।

रघुनाथजी को अपने गुरुवर्य महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा द्वारा और उपासना के लिए पुष्प लाने के लिए और जानकीजी को— 'गिरिजा पूजन जननि पठाई'—अपनी मातुश्री की आज्ञानुसार श्री गिरिजा की पूजा के लिए, कैसा मर्यादित समागम है। यहाँ कवि को शृङ्गार रस का उद्दीपन विभाव वर्णन करना अभीष्ट है। जनकपुर समृद्धिशाली नगर है, वहाँ अनेक पुष्पवाटिकायें हैं। पर रघुनाथजी राजकुमार हैं, महाराज जनक के सम्मान्य अतिथि हैं, वे अन्यत्र क्यों जाने लगे। उनके उपयुक्त तो राजकीय पुष्पोद्यान ही हो सकता है। अतः गोस्वामीजी उस पुष्पोद्यान का उद्दीपनात्मक वर्णन इस प्रकार करते हैं—

भूप बाग वर देखउ जाई, जहँ बसंत ऋतु रही लोभाई।

रघुनाथ जी पुष्पोद्यान को देखते हैं, कैसे पुष्पोद्यान को जहाँ अखिल विश्व को प्रलुब्ध करने वाली वसन्त ऋतु स्वयं प्रलोभित हो रही है। 'कुमारसम्भव' में कालिदास पुष्पधन्वा कामदेव को श्री शंकर को लुभाने के लिये भेजते हैं और—

"तस्मिन् वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती।
सङ्कल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे।'

कुमारसंभव, ३।२३

इस पद्य से वसंत के उद्दीपन का बड़ा ही उत्कर्षक वर्णन प्रारम्भ करते हैं। शृङ्गारी कवि कालिदास द्वारा वहाँ वसंत ऋतु से ही प्रभावित प्राकृतिक वन शोभा विश्वमोहनी बनाई गई है। पर गोसाईंजी "जहँ बसन्तु ऋतु रही लोभाई" कहकर कालिदास के इस वर्णन को

शिथिल बना दिया है। वसन्त ऋतु का स्वयं प्रलोभित होना कहां ? और वसंत ऋतु द्वारा उत्कर्ष किया जाना कहाँ ? कालिदास के वर्णन में, वसंत से प्रभावित पशु, पक्षी आदि की शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन किया जाने के कारण साहित्याचार्यों द्वारा रसाभास माना गया है। पर रामचरितमानस में उपर्युक्त चौपाई के आगे यह वर्णन है—

लागे विटप मनोहर नाना, बरन बरन बर बेलि विताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाये, निज संपति सुर-रूख लजाये।
चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहग नटत कल मोरा।
मध्य भाग सर सोह सुहावा, मनि सोपान विचित्र बनावा।
विमल सलिल सरसिज बहुरंगा, जलखग कूजत गूंजत भृंगा।

जिस पुष्प वाटिका में नवीन पल्लव, फल और पुष्पों से सुशोभित अनेक प्रकार के मनोहर वृक्ष लगे हैं, उनपर वितान रूप से लतिकाएँ छाई हुई हैं। चातक, चकोर, कीर एवं कोकिल आदि पक्षीगण अपने अपने चेतोहारी शब्दों से उसे मुखरित कर रहे हैं। मयूरगण मनहरण नृत्य में मग्न है। बाग के मध्य भाग में मणियों के सोपान वाला निर्मल जल से परिपूर्ण सरोवर है, उसमें नाना रङ्ग के प्रफुल्ल कमल, जलपक्षियों की मधुर ध्वनि और भृंग-पुञ्जों का गुञ्जार हो रहा है। रमणीयता का कैसा पवित्र वर्णन है। गोसाईंजी को इस वर्णन से सन्तोष नहीं हुआ, वे अपनी असमर्थता दिखाते हुए संक्षिप्त में कहते हैं—

'बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बन्धु समेत।
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।

इतने में ही सभी कुछ कह दिया है। जिस बाग को देखने से लोकाभिराम श्री राम को—अखिल विश्व के स्वयं सुखनिधान श्रीराम को—सुख प्राप्त हो उसकी परम रम्यता का यह पर्याप्त वर्णन है।

आलम्बन विभाव के वर्णन में देखिये कैसे चातुर्य से श्रीराम सीता के 'काकतालीय' एकत्र होने पर उनका परस्पर पूर्वानुराग प्रदर्शित कराया गया है। रघुनाथजी पुष्पोद्यान में फूल बीन रहे हैं, ऐसे समय

में सीताजी उसी पुष्पोद्यान में श्री गिरिजा के मन्दिर में प्रवेश करती हैं—

संग सखी सब सुभग सयानी, गावहिं गीत मनोहर बानी।

उनके साथ सुन्दर और चतुर सखी हैं, वे मनोहर वाणी से मधुर गीत गा रही हैं—उनमें से स्त्री स्वभाव सुलभ फुलवारी देखने गई हुई एक सखी श्री रघुनाथजी की रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर प्रेम विवश सीताजी के निकट आती है। उसकी तादृश प्रेम विह्वल दशा को देखकर सखियों द्वारा कारण पूछा जाने पर, वह कहती है—

देखन बाग कुँवर दोउ आये, वय किशोर सब भाँति सुहाये।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

अहा। सखी ने कुछ अधिक न कहकर भी जो कहने योग्य था सभी कुछ कह दिया। अधिक कहने के लिये समय ही कहाँ था। आशंका थी कि कहीं राजकुमार वहाँ से चले न जायँ-ऐसा न हो कि, हमारी राजकुमारी उनके दर्शन सुख से वञ्चित ही रह जाय। सखी के ऐसा कहने पर सीताजी के हृदय में उत्कण्ठा होने पर भी गोसाईं जी ने उनके मुख से कुछ न कहला कर एक अन्तरङ्ग सखी द्वारा ही श्री रामचन्द्र के प्रत्यक्षदर्शन के लिये प्रार्थना कराई है—'अवसि देखिये देखन जोगू।' यह सुनकर उत्कंठित सीताजी उस अपूर्व सुन्दरता को देखने के लिये चली और—

'चकित विलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।'

चारों ओर सभीत बाल मृगी की तरह देखने लगी और उधर सन्मुख आती हुई सीताजी को देखकर—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय की कीन्ही॥

ऐसा कहकर श्री रघुनाथजी, सीताजी के मुखचन्द्र को उसी प्रकार देखने लगे, जिस प्रकार षोडस कलापूर्ण चन्द्रमा को चकोर अपलक दृष्टि से देखता है। कालिदास आदि महाकवियों के महाकाव्यों में आलम्बन विभाव के सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त विस्तार के

साथ प्रायः देखा जाता है। कालिदास ने श्री पार्वतीजी के रूपलावण्य का वर्णन 'कुमारसंभव' काव्य में इस प्रकार किया है—

"असंभृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य,
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथवयः प्रपेदे।" १।३१

भावार्थ—पार्वतीजी की बाल्यावस्था के पश्चात् उस यौवन का प्रादुर्भाव हुआ, जो कामिनीजनों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बिना ही शृङ्गार किये सुशोभित कर देता है, और बिना ही मद-पान के मदमस्त बना देता है, एवं जो पुष्पधन्वा-कामदेव का बिना पुष्प का बाण है।

"मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार वाला,
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्।" १।३९

भावार्थ—सूक्ष्म कटि वाली उन पार्वती के उदर पर जो रमणीय त्रिवली की रेखाएं थीं, वे रेखाएं क्या थीं मानो यौवन ने कामदेव को ऊपर (स्तन आदि उपरि भाग पर) चढ़ने के लिए सीढ़ी बना दी।

"अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्या स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्,
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृनालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्।" १-४०

भावार्थ—उस कमलनयनी के गौरवर्ण एवं श्याम मुख वाले दोनों स्तन बढ़कर परस्पर में इतने सम्मिलित हो गए कि उनके बीच में इतना भी स्थान नहीं था कि कमल के नाल का तन्तु भी उनमें समा सके। इतना ही नहीं—

"शिरीषपुष्पाधिकसौकमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः,
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन।" १-४१

भावार्थ—पार्वतीजी की दोनों भुजाएँ शिरीष पुष्प से भी कोमल होने के कारण, मैं समझता हूँ कि पुष्पधन्वा काम ने भगवान् शङ्कर से विजित होकर भी उनके कण्ठ में इनकी भुजाओं का पास (फांसा-बन्धन) कर दिया।

इत्यादि अनेक पद्यों में जगज्जननी पार्वती जी के अङ्ग प्रत्यङ्गों का ही नहीं, उनकी अतरंग क्रीड़ाओं का भी अमर्यादित वर्णन किया है। किन्तु गोस्वामीजी द्वारा जनकनन्दिनी के सौन्दर्य का वर्णन मर्यादोचित किया गया है। जगन्माता सीताजी के

अङ्ग प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य के वर्णन में गोसाईं जी द्वारा मर्यादोल्लंघन किया जाना भला कब सम्भव था। अतएव उन्होंने सीताजी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त कौसल के साथ किया है। गोसाईंजी कहते हैं—

'जिन निज रूप मोहनी डारी, कीन्हें स्ववश नगर नरनारी।

जिन श्री रघुनाथजी ने अपनी रूप-माधुरी से जनकपुर के अखिल नरनारी समाज को मुग्ध कर दिया था, वही श्री रघुनाथजी भगवती सीता की रूप-माधुरी पर विमुग्ध हो गये—'भये विलोचन चारु अचचल—'बस इतने छोटे से वाक्य में ही सीताजी के अनुपम रूप लावण्य के वर्णन की पराकाष्ठा करदी है। इसके पश्चात् 'मनहु सकुचि निमि तजे दृगचल।' में जो उत्प्रेक्षा की है, उसमें भी लोक-मर्यादा का अद्भुत भाव गर्भित है। अर्थात् सीताजी के लोकोत्तर रूप लावण्य देखने को रघुनाथजी की दृष्टि के स्थिर होने में एक यह भी कारण था कि अपने कुल की कन्या भगवती सीता पर रघुनाथजी के द्वारा प्रेमावलोकन के समय नेत्रों में-निमेष रूप में रहने वाले राजा जनकजी के पूर्व पुरुष निमि उपस्थित रहना उचित न समझ कर रघुनाथजी के नेत्रों को छोड़कर चले गए। और देखिए, भगवान् रामचन्द्र कहते हैं—

'जनु बिरचि सब निज निपुनाई, बिरचि विश्व कहँ प्रकट जनाई।

इसमें यह उत्पेक्षा की है कि जनकनन्दिनी की रचना करके मानो विधाता ने अपना चातुर्य विश्व को प्रकट करके दिखाया है। इस वर्णन से कुछ मिलते हुए कालिदास के—

"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेश विनिवेशितेन।
समर्पिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्य दिदृक्षयेव।"

इस वर्णन में भी पार्वती जी के सौन्दर्य के विषय में विधाता के रचना-कौशल की उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी ने विश्व भर की सारी उपमा योग्य सुन्दर सामग्रियो को एकत्र देखने के लिए (यह जाच करने के लिए कि मेरे द्वारा रचित विश्व की सम्पूर्ण सुन्दरता एकत्र कर देने पर कैसी प्रतीत होगी) मानो पार्वतीजी की रचना की है। निष्कर्ष यह है कि कालिदास के इस वर्णन को

उत्प्रेक्षा में सौन्दर्य को एकत्र करने का प्रयास मात्र है। परन्तु गोसाईं जी की उक्त उत्प्रेक्षा में सौन्दर्य का परिपाक अवस्था में प्रदर्शन कराया गया है। प्रयास में और सफलता में जो भेद है, वही इन दोनों उत्प्रेक्षाओं में है। इसके अतिरिक्त एक यह भी विशेषता है कि कालिदास ने स्वयं पार्वतीजी के सौन्दर्य का वर्णन किया है। किन्तु गोसाईंजी की चौपाई में भगवान् रामचन्द्र जो स्वयं सौन्दर्य-निधान थे सीताजी के अवर्णनीय सौन्दर्य के वर्णन करने में असमर्थ हो कर उस सौन्दर्य का अनुभव मात्र करने में ही समर्थ हो सके हैं—

"देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत वचन न आवा।"

फिर गोसांई जी ने—

"सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छवि-गृह दीप सिखा जनु वरई।"

सीताजी को सुन्दरता रूप घर की दीप-शिखा (दीपक की ज्योति) बता कर उत्प्रेक्षा की है। कालिदास ने 'रघुवंश' में स्वयम्वर के प्रसंग में इन्दुमति को दीपशिखा की उपमा दी है—

"सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा,
नरेन्द्रमार्गाट्टइव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।"

भाव यह है कि जब स्वयम्वर में इन्दुमति जिस जिस राजा के सम्मुख होकर (उसे छोड़कर) आगे बढ़ती थी, उस उस राजा की ठीक वही अवस्था होती थी; जिस प्रकार चलती हुई दीप-शिखा (हाथ में लिया हुआ प्रकाश) के आगे बढ़ने पर राजमार्ग (बाजार) में पीछे छोड़ी हुई दूकानें प्रकाश-हीन (प्रभा-हीन) होती जाती हैं। इस दीपशिखा की उपमा के वर्णन द्वारा संस्कृत साहित्य में कालिदास को इतना गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त है कि कालिदास नाम के अन्य कवियों से पृथक् सूचन करने के लिए रघुवंश आदि के प्रणेता कालिदास का 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से उल्लेख किया जाता है। वस्तुतः इस उपमा की कल्पना बहुत ही विचित्र और चेतोहारी है। तथापि जब हम उसके साथ गोसांईजी द्वारा दी गई दीप-शिखा की उत्प्रेक्षा की तुलना करते हैं, तो विवशतया कहना पड़ता है, कि कालिदास की 'दीपशिखा' सुवर्ण है तो गोसांईजी की 'दीपशिखा'

अवश्य ही कुन्दन है[1]। कालिदास ने इन्दुमति को दीपशिखा की समता केवल उसके द्वारा त्यक्त राजाओं के गतप्रभ होने मात्र के लिये दी है, किन्तु गोसाईंजी ने सीताजी को विश्व की सुन्दरता रूप वस्तु का प्रदर्शन कराने वाली दीपशिखा की उपमा दी है।

और देखिये—

भगवती सीता का सादृश्य गोसाईंजी को त्रिभुवन में कहीं उपलब्ध न हो सका, क्योंकि उपमा देने योग्य सर्वोत्कृष्ट जितनी सुन्दर वस्तुएँ हैं, उनको तो कविजनों ने साधारण स्त्रियों को उपमा देकर जूठी कर दिया है। वे निर्माल्य उपमाएँ विदेह राजकुमारी के योग्य किस प्रकार हो सकती हैं—

'केहि पटतरौं विदेह कुमारी, सब उपमा कवि रहे जुठारी।'

अतएव जब सीताजी रंगभूमि में पदार्पण करती हैं, गोसाईंजी कहते हैं—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी, रति अति दुखित अतनु पति जानी।
विष वारुणी बधु प्रिय जेही, कहिय रमा सम किमि वैदेही।
जो छवि सुधा पयानिधि होई, परम रूप मय कच्छप सोई।
सोभा रजु मन्दरु सिंगारू, मथइ पानि-पंकज निज मारू।
यहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल॥

इस प्रकार उत्पन्न लक्ष्मीजी हो तब भी सीताजी के साथ उनकी उपमा देने में कवि को संकोच होता है, क्योंकि उपमा तो उत्कृष्ट वस्तु से ही दी जाती है। देखिये, कैसी अपूर्व एवं अद्भुत कल्पना है। गोसाईंजी यदि इस नवीन उपमा की कल्पना न करते तो उनकी उपर्युक्त 'किहि पटतरौं विदेहकुमारी ...' उक्ति वस्तुतः कवि स्वभाव सिद्ध मात्र ही रह जाती।

कालिदास ने उर्वशी के सौन्दर्य के वर्णन में लिखा है—

"अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूत् चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः'

---

१ एक प्रकार का विशुद्ध अधिक चमत्कारक सुवर्ण, जिससे आभूषणों में हीरा, माणिक्य आदि रत्न जड़े जाते हैं।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।"

—विक्रमोर्वशीयनाटक

भावानुवाद—

रचना इसकी मन मोहक में कि कलानिधि चन्द्र प्रजापति है !
कुसुमाकर ही सुखमाकर ? या कुसुमायुध ही रति का पति है।
विधि वृद्ध विरक्त हुआ जिसकी अब वेद विचार रता मति है।
इस रूप अलौकिक की कृति में न समर्थ कहीं उसकी गति है।

यह वर्णन भी अपूर्व है। परन्तु गोसांईजी द्वारा वर्णित सौन्दर्य की समता कालिदास द्वारा वर्णित सौन्दर्य नहीं कर सकता है। कालिदास ने अपनी वर्णित सामग्रियों द्वारा उर्वशी की रचना की उत्कृष्टता सूचित की है पर श्रीगोसांईजी ने इनसे कहीं बढ़कर उपर्युक्त सामग्रियों द्वारा की हुई रचना को भी सीताजी की तुलना देने में संकोच प्रदर्शित किया है।

गोसांईजी के पूर्वानुराग का वर्णन भी देखिए—

"कात बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान,
मुख-सरोज मकरंद-छवि करत मधुर इव पान।"

गोसांईजी ने बस इतने संकेत मात्र से सीता-विषयक रघुनाथ जी के पुर्वानुराग का बहुत संयत शब्दों में वर्णन किया है। परन्तु शकुन्तला-विषयक दुष्यन्त के पूर्वानुराग का वर्णन कालिदास इस प्रकार करते हैं—

"चलापांगां दृष्टिं स्पृससि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करैः व्याधुन्वन्त्या ः पिवसि रति सर्वस्वमधरं,
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृति।"

भावानुवाद—

"दृग चौंकत कोए चलैं चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू,
लगि कानन गूंजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू।

कर रोकति कौ अधरामृत लै रति कौ सुख सार बढ़ावत तू,
हम खोजत जाति हि पाति रहे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।

—राना लक्ष्मणसिंह द्वारा अनुवादित.

इसके अतिरिक्त शकुन्तला विषयक विरह-जनित काम इा की विक्षिप्त अवस्था का कालिदास ने स्वय दुष्यन्त द्वारा बहुत छ वर्णन कराया है। परन्तु गोसाईजी ने रघुनाथजी के मुख से इस विषय में एक शब्द कहलाना भी उचित नहीं समझा है। इसी प्रकार रघुनाथजी के विषय में जानकीजी के पूर्वानुराग का वर्णन रामचरित मानस में बहुत ही औचित्य पूर्ण किया गया है। पुष्पवाटिका में जब रघुनाथजी अदृश्य हो जाते हैं—

"चितवत चकित चहूँदिसि सीता, कहँगये नृपकिसोर मनचीता।
जहँ बिलोकि मृगसावकनयनी, जनु तहँ बरसि कमल सित स्रेनी।
लता ओट तब सखिन लखाये, स्यामल गौर किसोर सुहाये।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपतिछबि देखे, पलकनि हू परिहरी निमेखे।
अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।"

यह दशा देखकर—

जब सिय सखिन प्रेम बस जानी, कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।
परम सखिन लखी जब सीता, भये गहरु सब कहहिं सभीता।

सखियाँ परस्पर में कहने लगीं "बहुत विलंब हो गया है" और वे भयभीत भी होगई कि "माताजी विलंब का कारण पूछेंगी तो हम क्या कहेंगी"। इसपर भी सीताजी की प्रेम समाधि दूर न हुई तब एक सखी "पुनि आउब एहि बिरियां काली" यह कह कर मुसकराने लगी। तब—

"गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी, भयेउ बिलंब मातु भय मानी'

सखी की रहस्य मयी व्यग्योक्ति को सुनकर सीताजी लज्जित हो गई। सखी की इस उक्ति के वाच्यार्थ में तो एक साधारण उपहास मात्र है। किंतु व्यग्यार्थ में "तुम्हारी इस प्रेम विवश दशा को हम भलीप्रकार समझ रही हैं, और मैंने अपने—'पुनि

आउब इहिं बिरियाँ काली'–यह वाक्य राजकुमार को सुनाते हुये इस लिये कहा है कि वेभी कल इसी समय यहाँ आवैं" यह बोधव्य वैशिष्ट्य व्यंग्य है। यहां बोधव्य (जिसके प्रति सखी कह रही है) सीताजी हैं और रघुनाथजी सखी के वाक्य सुन रहे हैं, उनके प्रति इस वाक्यमें यह ध्वनि है कि "हम अपनी सखी जनकनंदिनी के साथ कल यहाँ इसी समय आवेगी, आप भी आने की कृपा करें"। अतः यह अन्यसंनिधि वैशिष्ट्य व्यंग्य भी है। सखी की इस गूढ़ोक्ति को सुनकर लज्जित सीता जी लौटीं तो अवश्य, पर–'फिरि बहि धीर राम उर आनी, फिरीं अपनपो पितु बस जानी'–केवल देह मात्र से, मन से नहीं यह भाव गोसाईजी की इस चौपाई से व्यक्त होता है–

देखन मिस मृग विहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि;
निरखि निरखि रघुवीर-छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि।

देखिए, कितनी मधुर, कोमल और कान्त पदावली द्वारा यह भाव व्यक्त किया गया है। कालिदास ने भी तपोवन में दुष्यन्त और शकुंतला को परस्पर एक दूसरे पर अनुरक्त हो जाने के बाद सखियों के साथ आश्रम को लौटती हुई शकुंतला की चेष्टा का इसी प्रकार वर्णन किया है—

"हला अनसूये, अभिनव-कुश-सूची-परिक्षतं मे चरणम्, कुरवक-शाखा-परिलग्नश्च वल्कलम्। तावत् परिपालयतं माम् यावदेनं मोचयामि।" —शकुन्तला, प्रथमाङ्क।

भावार्थ—सखी अनुसूया, नवीन कुश का कांटा लग जाने से मेरे चरण में घाव हो गया है, और इस कुरवक की शाखा में मेरा वल्कल चीर भी फँस गया है, कुछ देर रुको, जिससे मैं इसे छुड़ालूं।

इस बहाने से दुष्यंत को पुनः देखने के लिये शकुन्तला रुक जाती है। शकुन्तला की इस प्रणय-गर्भ चेष्टा का, राजा दुष्यन्त ने, जो वर्णन विदूषक के प्रति किया है वह यह है—

"दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे,
तन्वीस्थिता कतिचिदेव पदानिगत्वा।

आर्सीद्विवृतवदना च विमोचयन्ती,
शाखासु वल्कलमसक्तमपिद्रुमाणाम् ।"
—शकुन्तला, द्वितीयाङ्क

पद्यानुवाद—
पग मेरे में काटो चुभ्यो कहि यों सखियान सों बात बनाय विथा की,
चलि कै कछु ही डग औचक ही वह बैठि गई मुरि कै झुकि झाँकी।
उरझ्यो कहुँ वल्कल चीर न पै सुरझायवे के मिस ओट लता की,
फिर हूँ अभिलाष सों मेरी ही ओर लजीली चितौन लगी जु प्रिया की।
—लेखक द्वारा अनुवादित

भावार्थ—कुछ ही पग चल कर वह तन्वी (शकुन्तला) एकाएक यह कह कर बैठ गई कि मेरे पैर में कुश का काटा लग गया है। यद्यपि उसका वल्कल चीर वृक्ष की शाखा में फँसा भी न था तब भी वह उसे छुड़ाती हुई फिर कर मेरी तरफ देखने लगी।

रामचरित मानस और शकुन्तला के ये दोनों वर्णन समान अवश्य हैं, किन्तु शृङ्गारी कवि कालिदास शकुन्तला की इस चेष्टा का वर्णन स्वय शकुन्तला और दुष्यन्त द्वारा कराते हैं परन्तु स्वयवर के पहिले भगवती सीता और भगवान् रामचन्द्र द्वारा ऐसा कथन किया जाना मर्यादोचित न समझ कर गोसाईंजी स्वय उसका वर्णन करते हैं। इस प्रकार की विशेषता द्योतक और भी बहुत से प्रसङ्ग रामचरित मानस में हैं किन्तु विस्तार भय से इस लेख को यहीं समाप्त किया जाता है।

———

कालिदास का काव्य-वैचित्र्य

कालिदास के काव्य विभव का आसमुद्र अतुलित सन्मान,
सुप्रसिद्ध विद्वानों द्वारा किया गया उनका गुण गान।
लिखे गये हैं, लिखे जा रहे अब भी उन पर बहुत प्रबंध,
हम भी कुछ लिख चुके प्रथम हैं यह तो है संक्षिप्त निबंध ॥

कालिदास अनुपम प्रतिभाशाली महाकवि थे। काव्य-रचना के लिए कवि में शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास का होना परमावश्यक है। कालिदास में ये तीनों ही बातें पूर्ण रूप में विद्यमान थीं। काव्य-शक्ति उनमें यहाँ तक थी कि रचना के समय उनको सुमधुर भाव-व्यञ्जक शब्दों को स्मरण करने की आवश्यकता ही नहीं थी। तादृश शब्द-समूह प्रयोग के लिए उनके सम्मुख स्वयं उपस्थित रहते थे। जैसा कि—

"अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः,
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते,
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनाविशेषः[1]।"

महाकविमंखक—श्रीकण्ठ चरित, २।३६

इस पद्य में महा कवियों के विषय में कहा गया है। कालिदास की निपुणता और अभ्यास का साक्ष्य तो उनके ग्रंथ ही दे रहे हैं। सभी शास्त्रीय विषयों में कालिदास का असाधारण अधिकार था। उन के ग्रन्थों में वेदवेदान्त[2], न्यायमीमांसा[3], सांख्य[4], योग[5], आयुर्वेद[6]

---

१ वही कवि समाज का चक्रवर्ती सम्राट स्तुत्य है, जिसके सम्मुख इच्छा मात्र से शब्दार्थमयी सेना उपस्थित हो जाती है, जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट् की इच्छामात्र से उसकी चतुरंगिणी सेना।

२ कुमारसंभव २।१२, २।२४, ३।१५, रघुवंश १५।७६, ३ रघुवंश १३।१। ४ कुमारसंभव २।१३। ५ रघुवंश १३।५२, कुमार संभव ३।५८। ६ मेघदूत पूर्वमेघ १३। कुमारसंभव २।४८, मालविकाग्निमित्र ४।४

धर्मशास्त्र[1], ज्योतिष[2], कामशास्त्र[3], नाट्यशास्त्र,[4] और राजनीति एवं पदार्थविज्ञान[5] आदि सभी विषयों के वर्णन मिलते हैं। ललितकला और लोक व्यवहार का वर्णन तो अनेक स्थलों में कालिदास ने बहुत ही सुन्दर किया है। प्रकृति के सम्पूर्ण चित्ताकर्षक दृश्य प्रतिबिम्बित होकर इनको अपनी प्रतिभा के दर्पण में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते थे। कालिदास के काव्य के महत्त्व-सूचक आनन्दोद्गार अनेक काव्य-मर्मज्ञ रसानुभवी विद्वानों और महाकवियों ने निकाले हैं। प्रकृति वैचित्र्य के वर्णन में अग्रगण्य कादम्बरी प्रणेता श्रीबाणभट्ट कहते हैं—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु,
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।"[6]

—हर्षचरित

महान् साहित्याचार्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य कहते हैं—

"अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे,
कालिदासप्रभृतयोद्वित्राः पञ्चषावा महाकवयइति।" —ध्वन्यालोक

अर्थात् काव्य संसार के गणमान्य दो चार महाकवियों में सर्वश्रेष्ठ प्रथम कालिदास का ही नामोल्लेख किया है। केवल पूर्वकालीन ही नहीं, आधुनिक भी सुप्रसिद्ध साहित्यानुभवी कविवर रवीन्द्रनाथ टागोर, श्री अरविन्द घोष और श्री राजेन्द्रलाल राय जैसे अनेक प्रकाण्ड आलोचक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों और निबन्धों में कालिदास के काव्यों की विस्तृत आलोचनाओं में सर्वोच्च विचार प्रकट किये हैं। कालिदास की पीयूष-प्रवाहिनी सरस्वती ने अपने रसास्वादन से

---

1 रघुवंश ११।१८, कुमारसम्भव ७।८४, शाकुन्तल ६।७। 2 कुमारसम्भव ७।३२, ३।४३, ७।६, ७।१, रघुवंश ३।१३। 3 देखो कामसूत्र कन्या सम्प्रयुक्त २०३।५ और २३६, २३७, शाकुन्तल कण्वाश्रममें दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ व्यवहार तथा ४।१७। 4 भरत नाट्यशास्त्र में नृत्याभिनय और मालविकाग्निमित्र में पञ्चांगाभिनय ३।६। 5 कुमारसम्भव ३।६७, ४।४४। 6 इसका भावार्थ यह है—आम्रमञ्जरी के सदृश मधुर एवं सरस कालिदास की सूक्तियों के रसास्वादन से किसके हृदयमें आनन्दानुभव नहीं होता है।

यूरोपीय सुप्रसिद्ध विद्वानों को भी विमुग्ध कर दिया है। जर्मनीय कविशेखर गेटी (Goethe)ने शाकुन्तल के विषय में कहा है—

"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्,
यच्चात्मन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूत पूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वांच्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।"

इसके अतिरिक्त तत्ववेत्ता हंबोल्ड (Hlexunder vor Humbald) एवं श्लेजल आदि समालोचकों ने कालिदास के काव्यों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यदि केवल मेघदूत की तुलना ही की जाय तो उसकी कोटि का कोई काव्य-ग्रन्थ यूरोपीय साहित्य में नहीं है। द्वादश शताब्दी के पाश्चात्य कविवर सोडरल की उक्ति है—

"ख्यातःकृर्ती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाचण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः॥"

अर्थात् कालिदास की काव्य-सुधामयी कीर्ति समुद्र के परलेपार तक पहुँच गई है।

कालिदास क्यों आसमुद्रान्त सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं? उनमें ऐसे क्या अलौकिक गुण थे? उनकी उपमादि अलंकारों की कल्पनाओं में क्या अनुपम चमत्कार है? उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दा-वली कैसी श्रवण-सुखद और प्रसाद-गुणालंकृत है? उक्ति में क्या अर्थ गौरव और गाम्भीर्य है? सृष्टि-वर्णन में कैसी सूक्ष्मदर्शिता है? उनके काव्य-गह्वर के अन्तर्गत कैसे सदुपदेशात्मक रत्न छिपे हुए हैं? इनपर प्रकाश डालने के लिए कालिदास के ग्रन्थों के अवतरणों के लिए स्थान-संकोच के कारण यहाँ केवल मेघदूत के कुछ अवतरण दिये जायेंगे—मेघदूत के विषय में एतद्देशीय साहित्य समीक्षकों का ही

❀ यदि तुम वसन्त और ग्रीष्म काल के मनोहारी पुष्प और फल एक साथ चाहते हो, आत्मा को मनोमुग्ध एवं तृप्त करने वाला रसायन तथा पृथ्वी और स्वर्ग का अभूतपूर्व ऐश्वर्य एकत्र देखना चाहते हो तो मेरे प्यारे मित्र, शाकुन्तल का अध्ययन करियेगा, वहाँ तुमको ये सभी सामग्रियाँ सहज में ही उपलब्ध होजायेंगी।

नहीं, पाश्चात्य महारथी विद्वानों का भी कहना है कि यदि कालिदास के अन्य ग्रन्थ उपलब्ध न होते तो भी केवल एक मेघदूत ही कालिदास को महाकवियों में उच्च स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त था। सबसे प्रथम हम मेघदूत का संक्षिप्त रूप में कुछ परिचय कराया जाना उपयुक्त समझते हैं।

कालिदास का मेघदूत

''संस्कृत' साहित्य में मेघदूत आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। मेघदूत दो भागों में विभक्त है, पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। अलकाधीश कुबेर ने अपने एक यक्ष को उसके कुछ अपराध के कारण एक वर्ष तक के लिए अलका से निर्वासित कर दिया था, तब वह यक्ष रामगिरि नामक पर्वत पर जाकर रहने लगा। कुछ समय बाद वर्षा काल के प्रारम्भ में जब उसने वर्षाकालीन मेघमण्डल का कामोद्दीपक दृश्य देखा तो वह अपनी प्रियतमा के वियोग में और भी अत्यन्त विकल हो गया और उसने अपनी विरहिणी प्रिया के समीप सन्देश भेजना चाहा। किन्तु रामगिरि से हिमालयान्तर्गत अलका तक सन्देश भेजने का और कोई साधन न देखकर विरह-विधुर यक्ष विचार-शून्य होकर आकाशस्थित अचेतन मेघ द्वारा ही सन्देश भेजने को उद्यत हो गया, और उससे इस कार्य के लिए प्रार्थना करने लगा। महाकवि कालिदास ने पूर्वमेघ में यक्ष द्वारा मेघ को रामगिरि से अलका तक के वर्षाकालिक मार्ग का और हिमालय के हिमवेष्टित गगनचुम्बी उत्तुंग शिखरस्थ अलका के चेतोहारी दृश्यों का वर्णन कराया है। उत्तर मेघ में कवि ने यक्ष द्वारा अलकापुरी के अलौकिक सौन्दर्य का, यक्ष के रमणीय निवासगृह और वियोगसन्तापित यक्षपत्नी की विरहावस्था का वर्णन कराने के बाद अन्त में यक्ष द्वारा उसकी प्राण प्रिया को कहने के लिए सन्देश कहलाया है। बस इसी के अन्तर्गत कालिदास ने प्रावृट् कालीन मेघमण्डल से प्रभावित होने वाले प्राकृतिक दृश्यों के नयनाभिराम विचित्र चित्र दृष्टिपथ किये हैं, और पुराणेतिहासों में वर्णित भगवान् श्रीरामचन्द्र, सीता, देवाधिदेव शंकर और कार्तिकेय आदि के सम्बन्ध से अद्यापि प्रसिद्ध अनेक पर्वत, नदी आदि पवित्र स्थानों का एवं हिमालय प्रान्त के विचित्र

दृश्यों का यथावत् शब्द-चित्र अंकित किया है। विशेषतः उज्जयिनी और अलका के मनोहारी वर्णन द्वारा इस छोटे से खण्ड-काव्य की सुषमा में निरूपम अभिवृद्धि हो गई है। यक्ष पत्नी की विरहावस्था तथा यक्ष के सन्देश का विप्रलम्भ शृंगारात्मक कारुणिक वर्णन सहृदयों के चित्त को एकबार ही द्रवित कर देता है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार कल्पना की आनन्दमयी सृष्टि में यथेष्ट विहार करने का अधिकार कालिदास जैसे कवि का ही हो सकता है।

'कवीन्द्र कालिदास ने यौवन के उद्यान में क्रीडासक्त यक्ष-दम्पति को नायक और नायिका कल्पना करके प्रधानतया उनके विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद हैं—अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक। मेघदूत में शाप प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ का वर्णन है। कवि-कुलगुरु कालिदास की अभिरुचि शाप-प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ के वर्णन में अधिक देखी जाती है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय में भी उन्होंने विशेषतया इसी का वर्णन किया है। दाम्पत्य स्नेह के उदात्त भाव-गर्भित विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में संस्कृत साहित्य के सिद्ध-हस्त दो ही कवि सर्वोच्च हैं, एक कालिदास और दूसरे भवभूति। भवभूति ने भी उत्तर-रामचरित में विप्रलम्भ का चित्ताकर्षक सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है।

मेघदूत और वाल्मीकीय रामायण

साहित्यमर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं है कि महर्षि वाल्मीकि के सूक्ति सुधारस का निरन्तर आस्वादन करने वाले कालिदास ने प्रायः अपने सभी काव्य और नाटकों में न्यूनाधिक रूप में श्री वाल्मीकीय रामायण का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया है। विशेषतया मेघदूत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर तो यह प्रयत्क्ष हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित भगवती जनकनन्दिनी की विरहवेदना से आकुलित भगवान् श्रीरामचन्द्र का सन्देश लेकर दक्षिणोदधि को उल्लंघन करने के लिए गगन-मण्डल में सौदामिनी विलसित मेघ के समान गमन करते हुए पवनसुत हनुमानजी

के प्रसंग के काव्यामृत से आकृष्ट चित्त होकर ही कालिदास ने रूपान्तर मे मेघदूत में वियोगी यक्ष की मानसीवृत्ति का वर्णन किया है। मेघदूत में प्रयुक्त—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु ।' 'रामगिर्य्याश्रमेषु ।' और 'रघुपतिपदैरंकितम् ।' इत्यादि वाक्य-खण्डों के द्वारा वाल्मीकीय रामायणोक्त कथा के साथ मेघदूत का सम्बन्ध तो प्रमाणित होता ही है किन्तु रामायणोक्त इस प्रसग के और भी अनेक वर्णनों का सादृश्य मेघदूत में प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहा है। कवि सार्वभौम महर्षि वाल्मीकि ने—

"अथ स काल सम्प्राप्त समयोद्य ज्लागम',
सपश्यत्व नभो मेघः सवृत गिरिसन्निभैः ।"—४।२८।२

इत्यादि पद्यों से मेघाच्छन्न गिरिशिखर के वर्षाकालीन दृश्य से परिवर्द्धित श्रीरघुनाथजी की विरहावस्था के वर्णनों का आरम्भ किया है। मेघदूत में भी—'आषाढस्य प्रशमदिवसे[1] मेघमाश्लिष्टसानु।' (पूर्व मेघ २) इत्यादि पद्यों द्वारा तादृश वर्षाकालीन दृश्योत्पन्न यक्ष की वियोगावस्था का वर्णन आरम्भ किया है। रामायण में वानराधिपति सुग्रीव द्वारा वानरों के प्रति गन्तव्य मार्ग में आनेवाले स्थानों का वर्णन है, तदनुसार मेघदूत में यक्ष द्वारा मेघ के प्रति गन्तव्य मार्ग में आने वाले स्थानों का वर्णन किया गया है। रामायण में आकाश के वायुमार्ग में समुद्रोल्लघन करते हुए हनुमानजी को सिद्धों द्वारा सपक्ष पर्वत की उपमा दी गई है—

'शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपि,
वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वत ।" ५।१।७६।

मेघदूत में भी सिद्धागनाओं द्वारा मेघ को पर्वत की उपमा दी गई है—

"अद्रे शृग हरति पवनः किंस्विदित्यु मुखीभि,
दृष्टोत्साहश्चकितचकित मुग्धसिद्धागनाभि ।" पूर्वमेघ ४४

१ मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ से प्राचीन वल्लभदेव ने 'प्रथम दिवसे' ही पाठ माना है। इसी पाठ से उत्तरमेघ के ४६ वें पद्य के-'शेषान्मासान्गमय चतुरो।' इस कथन का चान्द्रमास की गणना से समन्वय हो सकता है।

रामायण में हनुमानजी की पुच्छ को इन्द्र-धनुष की उपमा दी गई है। 'अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वजइवोच्छ्रितम् ।' (५।१।५६) मेघदूत में—'रत्नच्छायाव्यतिकर इव..........।' (पू० मे० १५) इत्यादि पद्य में इन्द्र-धनुष के सम्पर्क से मेघ का सुशोभित होना कहा गया है। रामायण में आतिथ्य के लिए समुद्र-द्वारा भेजे हुए मैनाक ने हनुमानजी से कहा है—

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता,
धर्मं जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान् ॥

—वाल्मी० ५।१।११२

इसी भाव को कालिदास ने सर्वांश में मेघदूत के निम्न लिखित पद्य में रख दिया है—

"त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधुमूर्ध्ना ।
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ॥
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखो किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥" [1]

—पू० मे० १७ ।

इस पद्य में कालिदास ने यक्ष द्वारा मेघ को यह कहलाया है कि वृष्टि द्वारा दावाग्नि को शांत करने वाले तुझको अपना उपकारी जान कर आम्रकूट पर्वत तुझे अपने मस्तक पर धारण करेगा, क्योंकि पूर्वोपकारी का आतिथ्य करने में साधारण व्यक्ति भी विमुख नहीं होता, फिर आम्रकूट जैसे ऊँचे शिखिर (ऊँचा सिर) रखने वालों की तो बात ही क्या।

रामायण में जल का भार वहन करने वाले मेघ का पर्वतशृङ्गों पर विश्राम ले लेकर जाना कहा गया है—

"महत्सु शृंगेषु महीधराणां विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति ।"

---

१. दावाग्नी का शमनक तुझे मार्ग का श्रान्त जान,
धारेगा स-प्रणय शिर पे आम्रकूटाद्रि, सानु ।
छोटे भी पा अतिथि घर पे स्वोपकारी-जनोंकी—
सेवा में हों बिमुख न, भला बात क्या है बड़ा की ॥

'मेघदूत में यह भाव इस प्रकार है—

"खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पद न्यस्य गन्तासि यत्र,
क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसा चोपभुज्य।"[1]

—पूर्व मेघ १३।

रामायण में लंका को पृथ्वी पर गिरा हुआ, स्वर्ग कहा है।—'महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णम्'—(५,७।६) मेघदूत में भी उज्जयिनी को स्वर्ग का एक खण्ड कहा है।

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा—
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशाला विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।[2]

—पू० मे १२

रामायण में वर्णित श्री जनकनन्दनी की विरहावस्था का तो कालिदास ने यक्ष पत्नी की वियोगावस्था के वर्णन में अधिकांश में अनुकरण किया है। रामायण में जानकीजी को शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्रमा की एक कला की उपमा दी गई है—

'ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्।'—(४।१५।१६)

मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—

आधिक्षामा विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वाम्
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशो

---

१ मेरे द्वारा प्रथम सुन तू मार्ग गन्तव्य तेरा,
उसके पीछे रुचिर सुनना मेघ ! सन्देश मेरा।
जायेगा तू, गिरि शिखर पे श्रान्त विश्राम पाता,
स्रोतों का पी लघु जल जहां क्षीणता भी मिटाता॥

२ जा,ने, ग्रामी, उदयनकथा वो अवन्ती रसाला—
जाके, जाना फिर धन ! उसी श्री-विशाला विशाला।
लौटे स्वर्गा-जन सुकृत का भोगने भाग-शेष,
लाये मानों धरणि पर वे स्वर्ग का खण्ड-एक॥

नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ।[1]

—उ० मे० २८

रामायण में सीताजी को शीतकालीन कान्ति-विहीन कमलिनी की उपमा दी गई है—

हिमहतनलिनीव नष्ट शोभा
व्यसनपरंपरया निपीड्यमाना ।
सहचररहितेव चक्रवाकी,
जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना ॥१

—सुन्दरकाण्ड १६।३०

मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां ।
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीवान्यरूपाम् ॥[2]

—उ० मे० २२

रामायण में शुभसूचक शकुन सीता जी के वामनेत्र के स्फुरण को मीन द्वारा सञ्चालित कमलपत्र की उपमा दी गई है—

"प्रस्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवाभिताम्रम् ।" (५।२९।२)

---

१. लेटी शय्या कर विरह की एक पार्श्वा कृशा को,
प्राची में ज्यों कृश-भुवि-लगी एक चांद्री-कला हो ।
जाती थी जो क्षण सम निशा, साथ मेरे, सुखी, सो,
तप्ते आँसू-युत विरह के दुःख से काटती को ॥

—हिन्दी मेघदूत विमर्श

२ उसको ही तू प्रमितवयनी अन्य मत्प्राण जान,
है वो मेरे रहित इकली चक्रवाकी समान ।
उत्कण्ठा में दिन वह बड़े काट मुर्झा गई सी,
हुई होगी शिशिर–नलिनी तुल्य अन्याकृती सी ।

—हि० मे० विमर्श

मेघदूत में इसका अनुसरण इस प्रकार है—

"त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ।"[1]

उ० मे० ३४।

इसी प्रकार ऊरुस्फुरण का भी रामायण के वर्णन का मेघदूत में अनुसरण है। यह तो दिग्दर्शनमात्र है। कालिदास ने मेघदूत के "इत्याख्याते पवनतनय मैथिलीवोन्मुखी सा" (उ० मे० ३९) इस वाक्य में तो श्रीजनकनन्दिनी का स्पष्ट नामोल्लेख करके निर्व्याज रूप में स्पष्ट सूचित कर दिया है कि मेघदूत की रचना का आधार वल्मीकीय रामायण ही है।

ऊपर के वर्णनों के अतिरिक्त कालिदास ने वियोगी-यक्ष द्वारा मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के समीप भेजने की कल्पना भी महर्षि वाल्मीकि प्रणीत योगवासिष्ठ के—

"अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे यो मा तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवास्त्यसौ जगति य परदुःखशान्त्यै प्रीत्या निरन्तरतर सकल यतेत ।

आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव सयुत',
विद्युल्लताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थित. ।
भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचित व्यालम्ब्य कण्ठे गुण,
नीचैर्गत्र मुहूर्तक कुरु दया सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढं क्षमा,
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयास्मानिलैः ॥"

—योग० निर्वाणप्र० उ० ११६ ।२-४

इस वर्णन के आधार पर की है। इन पद्यों में वियोगिनी कान्ता के समीप दूत भेजने का विचार करता हुआ एक पथिक कहता

---

१ सूनी स्निग्धाञ्जन बिन लटों से रुका है कटाक्ष,
भूली है जो मधु-मद बिना सर्वथा भ्रूविलास
तेरे जाने पर फड़क वो आँख प्राणेश्वरी की—
लेगी शोभा सुललित-हिले मीन से कञ्ज की सी।

—हि० मे० विमर्श

है कि इस प्रलय काल के सदृश असह्य विरहाग्नि से मैं संतप्त हो रहा हूं, इस समय मेरी प्राणप्रिया के पास जाकर संदेश पहुंचाने-वाला कौन है जो दूसरों के दुखों को शान्त करने के लिये उद्यत हो। पथिक ऐसा विचार कर ही रहा था कि उसे अपने सामने ही गिरि शिखर पर मेघ दिखाई पड़ा। उसने सोचा कि अहा! मेघ सदैव ही दूसरों के दुःखों को दूर करनेवाला परोपकारी है और कामदेव के घोड़े के समान बहुत शीघ्र मेरे घर जा सकता है। यह मेघ विलासिनी विद्युल्लता से परिवेष्ठित है अतएव यह रसिक भी है। यह मेरा दूत कार्य अवश्य करेगा। यह विचार कर वह पथिक उसी मेघ से प्रार्थना करने लगा कि 'भाई मेघ, तेरे गले में गुण है—तू गुणवान है, सुन्दर आकाश मार्ग में गमन करने वाला है, तुझे इन्द्र-धनुष को लेकर मेरी प्रिया के समीप जाना उचित है। वहाँ जाकर पहिले तू अपनी शीतल मंद समीर से, जिसमें पानी की बूंद टपक रही हो उसे सांत्वना देना। तत्पश्चात् मेरा संदेश देने की कृपा करना कुछ समय मन्द मन्द गरजना करना, क्यों कि मेरी प्रिया बाल-कमल की नाल के समान कोमल अंगोवाली कृशांगी है। वह बेचारी मेरे वियोग में आँखों से आँसू बहाती हुई तेरी गंभीर गर्जना को सहन न कर सकेगी।

ऊपर उद्धृत योगवासिष्ठ के अन्तिम पद्य के रेखाङ्कित वाक्यों का मेघदूत के निम्नलिखित पद्य में अनुसरण किया गया है—

'तामुत्थाप्य स्वजलकणिका शीतलेनानिलेन,
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालितीनाम्।
विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे,
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥'[1]

—उ० मे० ३७

---

१. उसको ठंडे स्व-जल कण के वायु से तू जगाके,
पीछे, जातीकुसुम-लतिका साथ ही स्वास्थ पाके—
देखे बारी-स्थित जब तुझे वो बिना दामिनी से
होके धीर-ध्वनित तब यों बोलना मानिनी से॥

—हि० मे० वि०

कालिदास और अन्यान्य महाकवि

कालिदास की मनोरम अलकार-गर्भित सूक्तियों पर मोहित होकर उनके परवर्ती बहुत से महाकवियों ने उनके वर्णनों का अनुसरण करने के लोभ को संवरण नहीं करके अपनी अपनी रचना का गौरव बढाने की यथेष्ट चेष्टा की है। उदाहरण रूप में मेघदूत की कुछ सूक्तियों का अन्य कवियों द्वारा किये गये अनुकरण का दिग्दर्शन कराया जाता है—

"सतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद, प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतेक्रोधविश्लेषितस्य।
गतव्या ते वसतिरलकानाम यक्षेश्वराणाम्।
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या[1]।
—पू० मे० ७

"यत्रो मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा,
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा,
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्या प्रदोषाः[2]।"
—उ० मे० ३।

इन पद्यों में अलका के बाह्योद्यान में निवास करनेवाले भगवान् चन्द्रशेखर के ललाट पर स्थित चन्द्रमा की कान्ति से अलका के महलों का सर्वदा (कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी) श्वेतप्रभायुक्त रहने से

---

१ मैं प्यारी से विरहित दुःखी स्वामि के कोप से हूँ
सन्तप्तों को शरणद, अत' एक संदेश ले तू—
जा यक्षों की नगरि अलका है वहाँ जो अटारी,
सो उद्यान स्थित गिरिश के चन्द्र से शुभ्र भारी।
२ भृंगाली से मुखरित जहाँ वृक्ष हैं नित्यपुष्पा,
हंसश्रेणी-लसित रसना पद्मिनी नित्य पद्मा।
पिच्छाभा से युत गृहशिखी नित्य उत्कण्ठ-घोषा
हैं ज्योत्स्ना से विगत तम की नित्यरम्या प्रदोषा।
—हिन्दी मेघदूत विमर्श

वहाँ सर्वदा चाँदनी रात्रि के रहने का वर्णन है। इसी के आधार पर महाकवि भारवि ने—

"स्नपितनवलतास्तरुप्रवालैरमृतलवस्नुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ।"
—किरातार्जुनीय ५।४४

इस पद्य में कहा है—चन्द्रमा की किरणों से—ऐसी किरणों से जिनसे अमृत के बिन्दु झरते रहते हैं, सिंचित रहने वाले लता और वृक्षों के पल्लवों के कारण हिमालय की वनभूमि सर्वदा (कृष्णपक्ष की अँधेरी रात्रियों में भी) शुभ्रकान्तिमयी रहती है। और इसी का अनुकरण दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने भी किया है—

"सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदंकरोदसि ।
निखिलान्निशि पूर्णिमातिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिकाऽतिथीः ।"
—नैषधीय चरित २।७६ ।

इस पद्य में कुण्डिनपुर के श्वेतमणि के भवनों के प्रकाश द्वारा वहाँ प्रतिपदा आदि सारी तिथियों का अतिथि रूप होकर रहना और पूर्णिमा का सदैव स्थिर रहना कहा गया है। कालिदास ने जो भाव बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है, वह रोचकता भारवि के पूरे पद्य में भी नहीं आ पाई है। श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र है—सहृदयाह्लादक नहीं। मेघदूत के—

"रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते,
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥"[1]
—पू० मे० १५

---

१. आगे ऐन्द्रीधनु कढ रहा रम्य वल्मीक से यों—
नानारंगी किरण नभ में रत्न के हों मिले ज्यों ।
तेरा नीला वपुष जिससे होयगा कान्ति धारी,
जैसे बर्हावृत मुकुट से गोप-वेशी-मुरारी ।
—हि० मेघ० वि०

मेघदूत के इस वर्णन के आधार पर गीतगोविन्द के प्रणेता भक्तवर श्रीजयदेवजी ने—

"चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्,
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेषम् ॥"

—गीतगोविन्द।

इस प्रकार रचना की है। इसमें और मेघदूत के वर्णन में भेद केवल यही है कि मेघदूत में मयूर पिच्छ का मुकुट धारण किए हुए भगवान् गोपालकृष्ण की उपमा इन्द्र धनुष से सुशोभित मेघ को दी गई है, और गीतगोविन्द में तादृश मेघ की उपमा तादृश भगवान् गोपालकृष्ण को दी गई है। मेघदूत के इसी वर्णन का अनुकरण महाकवि माघ ने—

"अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम्,
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शवलिमा बलिमानमुषो वपुः ॥

—शिशुपाल वध ६।२७

इस प्रकार किया है। इसमें इन्द्र धनुष से सुशोभित मेघ को भगवान् विष्णु के श्यामवर्ण की कान्ति की उपमा दी गई है—ऐसी कान्ति की जो अनेक रंगों की मणियों के कुण्डल की प्रभाराशि से चमत्कृत हो रही थी। माघ का यह वर्णन भी बड़ा मनोहारी है। मेघदूत में उज्जयिनी के बाजार के—

हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः,
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः।"[२]

—पूर्व मेघ ३३।

---

२ मुक्तामाला अगणित जहाँ हैं पड़ी शंख सीपी,
दूर्वा जैसी विलसितमणी श्याम-वैदुर्य की भी।
मूंगा के हैं कन घन लगे, देख बाजार शोभा,
जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा।
—हिन्दी मेघदूत विमर्श।

इस वर्णन में कहा गया है—उज्जयिनी के बाजारों में रक्खे हुए असंख्य मुक्ताहार, करोड़ों शंख-सीपियाँ, पन्नों की मणियाँ और प्रवालों के ढेर देखकर अनुमान होता है, कि अब समुद्र में केवल पानी मात्र ही शेष रह गया होगा, जब कि समुद्र में से इतनी रत्न राशि वहाँ आ गई है। इस वर्णन का अनुकरण उज्जयिनी के वर्णन में ही महाकवि बाणभट्ट ने इस प्रकार किया है—

"प्रकटशंखशुक्तिमुक्ताप्रवालमरकतमणिराशिभिश्चामीकरचूर्णसिकता-निकररचितैरायामभिरगस्त्यपरिपीतसलिलैः सागरैरिव महाविपणिपथै-रुपशोभिता।" —कादम्बरी

इसका भावार्थ यह है कि शंख, सीपी और मोती आदि के ढेरों से एवं बिखरे हुए सुवर्ण के चूरे से उज्जयिनी के विस्तृत बाजारों की शोभा ऐसी दृष्टिगत होती है, मानों महामुनि अगस्त्यजी द्वारा सारा पानी पीया जानेपर समुद्र में शेष रह गये शंख, सीपी और रत्न ही दिखलाई पड़ते हों। मेघदूत के इसी वर्णन का अनुकरण महाकवि माघ ने इस प्रकार किया है—

"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः;
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप।"

—शिशुपालवध ३।३८

अर्थात् द्वारिका के बाजारों में रक्खे गये रत्नों के ढेर के ढेर जलमार्ग द्वारा बहकर समुद्र के तट पर आ जाने से द्वारिका के समुद्र का ही रत्नाकर (रत्नों का भण्डार) नाम प्रत्यक्ष चरितार्थ होता है—अन्यत्र तो समुद्र में जल ही जल देखा जाता है, कहने मात्र को ही रत्नाकार है। महाकवि श्रीहर्ष की भी कल्पना देखिये—

"बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः।
हिमवालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वानयदापणार्णवः।"

—नैषधीयचरित २।८८।

इसमें कुण्डिनपुर के बाजार को समुद्र रूप वर्णन किया गया है। समुद्र में शंख और मोती आदि रत्न होते हैं। कुण्डिनपुर के बाजार में भी शंख आदि के ढेर लगे हुए हैं। समुद्र में कुलीर नाम

के जलजन्तु फिरते रहते हैं, कुण्डिनपुर में भी कौडियों को गिनने के लिये चलायमान हाथ ही कुलीर रूप हैं। समुद्र में बालू रेती होती है, इसमें भी अत्याधिक कपूर का चूर्ण बिखरा रहता है।

सत्य तो यह है कि सारे रत्नसमूह उज्जयिनी के बाजारों में आ जाने के कारण समुद्र में पानीमात्र शेष रह जाने के वर्णन में जो कालिदास की उपर्युक्त कल्पना है, वैसी उज्जयिनी के बाजारों में बाण भट्ट द्वारा की गई जल-रहित समुद्र की उत्प्रेक्षा में नहीं। और श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र है। माघ की कल्पना अवश्य अधिकांश में कालिदास के वर्णन के समकक्ष प्रतीत होती है। और देखिये—

"तस्यादात सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी,
त्वचेदच्छस्फटिकविशद तर्कयेस्तिर्यगम्भ।[1]
समर्पन्त्या सपदि भवत स्त्रोतसिच्छाययाऽसौ,
स्यादस्थानोपगतयमुनासगमेवाभिरामा।" पूर्वमेघ ५४

मेघदूत के इस पद्य में श्रीगंगा का जल लेने के लिए आकाश पर से नीचे को झुके हुए श्यामवर्ण के मेघ के दृश्य का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन है। यक्ष कहता है, हे मेघ, श्रीगंगा के स्फटिक के समान शुभ्र और स्वच्छ जल पीने को जब तू इन्द्र के ऐरावत हस्ती के सदृश महत्काय श्यामवर्णवाला—आकाश में पिछल आधे भाग को ऊँचा किए और आगे के आधे भाग से तिरछा होकर नीचा झुकगा, तब प्रवाह में गिरी हुई तेरी छाया से भगवती गंगा ऐसी सुशोभित होगी मानो प्रयाग से अन्यत्र ही यमुना का नयनाभिराम संगम हो गया हो। इस पद्य के प्रथम और द्वितीय चरण में वाल्मीकीय रामायण के—

"श्वेताभ्रघनराजीव वायुमार्गानुगामिनी,
तस्याभा शुशुभे छाया पतिता लवणाम्भसि।"

---

१ पीने उसका जल-विशद जो व्योम से तू झुकेगा,
फैला हुआ विबुधगज सा अग टेढा बनेगा।
छाया तेरी गिर सलिल में शीघ्र होगी प्रभा यों—
गंगा अन्यस्थल पर मिली भानुजा संग मानो।
—हिन्दी मेघदूत विमर्श

इस पद्य में लंका को जाते हुए समुद्र पर गिरने वाली हनुमान जी की छाया का जो वर्णन है, उसका अनुसरण किया गया है। जैसे सुयोग्य शिष्य को प्रदान की गई सुशिक्षा उसके अध्यापक के गौरव की अभिवृद्धि करती है, उसी प्रकार कालिदास ने अपने पद्य में मेघ को इन्द्र के ऐरावत हस्ती की उपमा और गंगा जी के प्रवाह में गिरने वाली छाया में श्रीगंगा यमुना के संगम की उत्प्रेक्षा की है। वास्तव में कालिदास ने महर्षि बाल्मीक के वर्णन को अधिक चित्ताकर्षक बना दिया है। श्रीगंगा यमुना के संगम के दृश्य सम्बन्धी कालिदास की कल्पना ने महाकवियों के चित्त को बहुत आकर्षित किया है, माघ ने इस सूक्ति पर मुग्ध होकर रैवतक गिरि की तलहटी में बहने वाली एक नदी का—

"एकत्रस्फटिकतटांशुभिन्ननीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः।"
—शिशुपाल वध ४।२६

इस प्रकार वर्णन किया है। कालिदास ने श्री भागीरथी के जल को ग्रहण करते हुए नीलमेघ का प्रतिबिम्ब भगवती गंगा की धारा में गिरने के दृश्य में गंगायमुना के सङ्गम की उत्प्रेक्षा की है। माघ ने रैवतक पर्वत की तलहटी में बहने वाली नदी के एक ओर स्फटिक (श्वेत मणि) के श्वेत तट की प्रभा से श्वेत प्रतीत होने वाले प्रवाह में और दूसरी ओर नील पाषाण मय तटकी श्याम प्रभा से नील प्रतीत होने वाले प्रवाह में गङ्गा यमुना के सङ्गम की शोभा को धारण करने वाला कहकर निदर्शना अलङ्कारात्मक वर्णन किया है। कालिदास की उत्प्रेक्षा का विषय मेघ की छाया है और माघ की कल्पना का विषय नदी के दोनों ओर के श्वेत नील तटों की छाया है।

इसी भाव के आधार पर श्री मम्मटाचार्य के परवर्ती आचार्य रुय्यक के शिष्य महाकवि मंखक का भी एक पद्य है—

"यस्या सकृत्प्रणमतो धृतमन्ततन्तु-
र्नम्रानना गिरिसुताश्रु भिरञ्जनाङ्कैः।

मौलौ नव लिखति शीतरुचे कलङ्क ,
पुष्णात्यकायदयमुना प्रणया च गंगाम् ॥

श्रीकण्ठ चरित ५।२६

मानवती पार्वती को प्रसन्न करने के लिए चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर बार बार प्रणाम करते हैं, तब भगवान् शङ्कर के मस्तक पर स्थित रहने वाली गङ्गा पर पार्वतीजी के अञ्जनमिश्रित अश्रुपात गिरते हैं। इस दृश्य पर कवि ने गङ्गा यमुना के सङ्गम की कल्पना की है। भगवान् शङ्कर के ललाट स्थित चन्द्रमा क ऊपर पार्वती जी के अश्रुपात गिरने में चन्द्रमा के कलङ्क की एक नवीन कल्पना की है। किन्तु मस्तक के वर्णन में सङ्गम की कल्पना का विषय औचित्य प्रदर्शक नहीं—उपमेय और उपमान के परिमाण पर ध्यान देने पर सहृदयों को उद्वेग जनक प्रतीत होता है-कहाँ अल्प अश्रु-विन्दु और कहाँ गङ्गा यमुना के सङ्गम का महान प्रवाह ?

'ता चावश्य दिवसगणनातत्परामेकपत्नी—
मव्यापन्नामविहतगतिद्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्,
सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥'[१]

—पू० मेघ १००।

मेघ से यक्ष कहता है—मेरे विरह में बड़ी कठिनता से शाप की अवधि के दिन गिनती हुई तेरी भाभी को, अर्थात् मेरी प्रिया को तू अवश्य जीवित देखेगा—वह मेरे मिलन की आशा से ही अब तक जी रही है। स्त्रीजनों का प्रेमी हृदय पुष्प के समान अत्यन्त सुकुमार होता है, वह अल्प आघात से ही मुरझाकर गिर जाता है। प्रिय विरह में आशा रूपी वन्धन ही उनके लिये एक मात्र जीवन का आधार होता है। इसी भाव को महाकवि भवभूति ने—

१. तेरी भाभी दिन गिन रही एक भर्ता व्रती को—
देखेगा तू रुक न पथ में जा वहाँ जीवती को।
होता स्नेही हृदय जिनका पुष्प सा शीघ्र पाती,
प्राय. आशा प्रिय-विरह में स्त्रीजनों को जिलाती।

—हि. मेघ वि

आशातन्तुर्न तु कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः,
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः ।

—मालतीमाधव ६।२६

इस पद्य में अभिव्यक्त किया है। 'उद्धवशतक' में भी यह भाव—

"आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धम् ।"

इस प्रकार लिया गया है।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे,
सद्यः कृत्तद्विरदशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचकेवाससीव ।[1]

—मेघदूत, ६२

इस भाव को महाकवि भारवि ने—

'तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तम्,
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः ।
व्यपगतमदरागस्यानुसंस्मार लक्ष्मी-
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः ।'

—किरातार्जुनीय, ४।३८

इस प्रकार वर्णन किया है। कालिदास ने तुरत कटे हुए हाथी के दांत के समान अत्यन्त श्वेतवर्णवाले कैलाशगिरि के शिखर पर स्थित, पिसे हुए कज्जल के समान अत्यन्त श्याम वर्ण वाले मेघ को, श्याम रंग का वस्त्र ओढ़े हुए हलधर (श्री कृष्ण भगवान के बड़े भ्राता) की उपमा दी है। भारवि ने श्याम वर्ण की वनराजि (पार्वतीय तरु लतिकाओं) से सुशोभित गौरवर्ण के हिमालय को देखकर अर्जुन

---

१. बैठेगा जा निकट उसके श्याम तू कज्जलाभी,
वो हाथी का रद सद-कटा गौर मैं सोचता कि—
होगी शोभा स्थकित-दृग से दर्शनीया वहां वो,
जैसे कंधे हलधर अहो वस्त्रनीला धराहो ।

—हि. मे. वि.

को नीलाम्बर धारित हलधर के स्मरण हो आने की कल्पना की है। कालिदास के वर्णन में उपमा अलङ्कार है और भारवि के वर्णन में स्मरण अलङ्कार है। शेष सब भाव कालिदास के ही हैं।

यह केवल मेघदूत की सूक्तियों के अनुकरण का दिग्दर्शन मात्र है। कालिदास के और भी अनेक वर्णनों का अश्वघोष[1] दण्डी[2] भवभूति[3] शूद्रक[4] और अमरुक[5] आदि अनेक बड़े-बड़े महाकवियों ने अनुकरण किया है।

कालिदास के काव्यों की विशेषता

कालिदास के सभी काव्य और नाटक संस्कृत के साहित्य में विश्वतोन्मुखी प्रतिभा और सर्वोत्कृष्ट रचना के उदाहरण हैं। वे अलौकिक कल्पनाओं की उद्यान वाटिका के कल्पतरु-प्रसून पुष्प-स्तावक हैं। मेघदूत जैसे छोटे से खण्डकाव्य के कुछ अवतरण ऊपर दिये गये हैं, इनपर भी तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान देने पर स्पष्ट विदित हो सकता है कि कालिदास अपने रचना-कौशल से जो भाव सरल और सरस थोड़े से शब्दों में गुम्फित करने एव उपमा और उत्प्रेक्षादि अलकारों की कल्पनाओं द्वारा वर्णनीय विषय का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित करने में सफलीभूत हुए हैं, तादृश सफलता विस्तृत शब्दावली में भी अन्य सुप्रसिद्ध महाकवि भी प्राप्त नहीं कर सके हैं। विन्ध्याटवी के अन्तर्गत आम्रकूट, नर्मदा, चर्मण्वती एव हिमालय प्रदेश के विचित्र दृश्यों पर और उज्जयिनी एव कैलाशस्थित अलका के अप्रतिम दृश्यों के जो शब्दचित्र मेघदूत में चित्रित किये गये हैं, वे अत्यन्त आकर्षक

१ उत्तरमेघ ४८ और बुद्धचरित 'अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्त दुःख पुरुष पृथिव्याम्, रघुवश ??३० । सौन्दरनन्द 'ततोविवक्तञ्च ' कुमारसभव ५।८५, सौन्दरानन्द 'तगौरव बुद्धगत '।

२ पूर्वमेघ ६१ और दशकुमार चरित—शरदिन्दुकुन्द धनसार ।

३ उत्तरमेघ १८ और उत्तररामचरित ३ १८ एव कुमारसभव ४।२६ उत्तर रामचरित ४।८

४ पूर्वमेघ ४१ और मृच्छकटिक ५।२

५ उत्तरमेघ ४१ और अमरुशतक २५।

हैं। कालिदास ने अपने सभी काव्य और नाटकों में कल्पना की पराकाष्ठा करदी है। उनके काव्यों में सृष्टि-सौन्दर्य किसी विशेष विषय—कामिनी के रूप लावण्य या किसी अवस्था विशेष के वर्णन में ही सीमित नहीं है, किन्तु उनमें देश, काल, पात्र, गुण और कार्य की समष्टि आदि का भी परमोत्कृष्ट वर्णन है कालिदास का वर्णन लोक-शिक्षा[1] एवं समाजोपयोगी विषयों से भी परिपूर्ण हैं। उदाहरण रूप में रघुवंश में देव और ब्राह्मणों में भक्ति, गुरुवाक्य में श्रद्धा, गो-सेवा अतिथि की अभिलाषा की पूर्ति और लोक-रञ्जन के लिये भगवान रामचन्द्र द्वारा भगवती सीता जैसी प्राणप्रियतमा के त्याग का उच्चादर्श इत्यादि के मर्मस्पर्शी वर्णनों से कान्ता-सम्मित शब्दों द्वारा कालिदास ने महत्वपूर्ण उपदेश दिये हैं। शाकुन्तल में भी यह शिक्षा गर्भित की गई है कि जबतक दाम्पत्य प्रेम का प्रभाव समाज, आदि पर नहीं हो पाता है तब तक वह क्षणभंगुर है। मेघदूत जैसे शृंगार-रस पूर्ण काव्य में भी शिक्षा गर्भित कर देना यह कालिदास की ही प्रतिभा का वैशिष्ठ्य है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने बहुत ही यथार्थ कहा है—

"साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये,
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती।"

—आर्यासप्तशती ३५।

मेघदूत के अनुकरण पर अन्य दूत काव्य और टीकायें

मेघदूत के अनुकरण पर अनेक दूतकाव्यों की रचना भी की गई है। उपलब्ध दूतकाव्यों में सबसे प्रथम जिनसेनाचार्य ने (शक-७०४) पार्श्वाभ्युदय लिखा है। तदनन्तर भोजराज ने चकोरदूत, विक्रमकवि ने नेमिदूत, वेदान्तदेशिक वेंकटाचार्य ने हंस-सन्देश, उदण्डशास्त्री ने कोकिल सन्देश, लक्ष्मीदास ने शुक-सन्देश, धोइक ने पवनदूत, वादिचन्द्र ने पवनदूत, विनयविजयगुणी ने इन्दुदूत, तैलंग व्रजनाथ ने मनोदूत, कृष्णसार्वभौम ने पदांकदूत, माधवकवीन्द्र ने

---

१ मेघदूत के पद्यों में क्या शिक्षा मिलती है, उसका दिग्दर्शन लेखक ने अपने "हिन्दी मेघदूत विमर्श" में कराया है।

उद्धवदूत, श्री रूपगोस्वामी ने हंसदूत, भगवद्दत्त ने मनोदूत और लक्ष्मीनारायण ने श्यामदूत, इत्यादि लिखे हैं। मेघदूत पर अनेक विद्वानों ने असख्य टीकायें भी लिखी हैं[1]। निष्कर्ष यह है कि उत्तर में पजाब से लेकर दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में महाराष्ट्र से बंगाल तक सभी प्रान्तों के सुप्रसिद्ध विद्वानों ने कालिदास और उनके काव्यों पर बहुत कुछ लिखा है। केवल एतद्देशीय ही नहीं, द्वीपान्तरीय विद्वानों द्वारा पाश्चात्य भाषाओं में भी मेघदूत के कई अनुवाद और व्याख्याएँ लिखी गई हैं। मि० विलसन् ने ई० सन् १८१३ में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या लिखी है, गिल्डमीस्टर ने सन् १८४७ में बोन में लैटिन भाषा के कोष के साथ एक आवृत्ति निकाली थी। प्रोफेसर मोक्षमूलर ने भी ई० स० १८४७ में एक आवृत्ति निकाली थी। अन्य पाश्चात्यों ने भी कई आवृत्तियाँ निकाली हैं। हमारी हिन्दी भाषा में भी मेघदूत के अनेक अनुवाद हो चुके हैं। जिनमें स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह का व्रजभाषानुवाद कालक्रम से ही नहीं, काव्यमाधुरी की सरसता में भी सर्व प्रथम है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद, "हिन्दी मेघदूत विमर्श" लिखने का दुस्साहस किया है। बस उपसहार में कालिदास के काव्यमर्मज्ञ भाष्यकार श्री मल्लिनाथ का निम्न लिखित पद्य लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है।

"कालिदासगिरा सार. कालिदासःसरस्वती,
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥"

१ इनमें से ३५ टीकाओं के नाम और पतों का विवरण लेखक के हिन्दी मेघदूत विमर्श में दिये गये हैं।

शब्दार्थ अथवा भावार्थ साम्य

पूर्ववर्ती कवियों के द्वारा किये गये शब्दार्थ प्रयोग,
परवर्ती कवियों की कृति में मिलता है उनका उपयोग।
होते अपहृत कहीं और वे स्वाभाविक भी कहीं प्रयुक्त,
यहाँ प्रदर्शित किये गये हैं उदाहरण इनके उपयुक्त।

—:०:—

पूर्ववर्ती कवि के काव्य में प्रयुक्त किसी चमत्कारक वाक्य अथवा भावार्थ का परवर्ती कवियों की काव्य-रचनाओं में कहीं कहीं साम्य दृष्टि-गत होता है। साधारण कवियों की तो बात ही क्या, अनेक प्राचीन परवर्ती महाकवियों के काव्यों में भी उनके पूर्ववर्ती महाकवियों के वाक्यों अथवा भावों का प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार का साम्य दो प्रकार से हो सकता है। एक तो स्वाभाविक और दूसरा अपहृत। यह विषय भी महत्वपूर्ण एवं मनोरञ्जक है। देखिये, स्वाभाविक प्रयोग—

"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं,
मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां
द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः।"
—किरातार्जुनीय ३-१०

महाकवि भारवि के इस पद्य में श्रीवाल्मीकीय रामायण के—

"स वेगवान् वेगसमाहितात्मा,
हरिः प्रवीरः परवीरहन्ता।
मनः समाधाय जयोपपत्तौ,
जगाम लंकां मनसा हनूमान्।"

इस पद्य के रेखाङ्कित अंश का यथावत् सादृश्य है यह स्वाभाविक है। रामायण के पद्य में ऐसा कुछ चमत्कार नहीं, अत यह नहीं कहा जा सकता कि महाकवि भारवि को उसके अपहरण करने का कोई प्रलोभन था। इसी प्रकार—

"इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्य रामानुजन्मा विरराम मानी।
सङ्क्षिप्तमाप्तावसर च वाक्य सेवाविधिज्ञैः पुरतः प्रभूणां।"

इस पद्य में पहिले पद्य के प्रथम पाद का स्वभाविक प्रयोग हो गया है। अपहृत प्रयोग—

योगवासिष्ठ और कालिदास

'प्रचालनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या .
तया गृहीत नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीत नु मृगाङ्गनाभि ।"
—कुमारसभव १-४६

इस पद्य में पवन द्वारा प्रकंपित कमल के समान भगवती पार्वती के चचल कटाक्षों का वर्णन है कि क्या कटाक्षो की यह रमणीयता भगवती पार्वती ने मृगवधुओं से सीखी है अथवा मृगवधुओं ने भगवती पार्वती से ? । इस पद्य में—

"नर्घृण्यमस्थैर्यमथाशुचित्व वीथ्याचरत्व परिकुत्सितत्व,
श्वभ्यो गृहीत किमु नाम मूर्खैः मूर्खेभ्य एवाथ शुना न जाने।
—योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उ० सर्ग ११६।४

इस पद्य का भाव यह है—'हम नहीं जानते कि निर्दयता, अपवित्रता, गलियों में भटकते फिरना और कुत्सितता आदि दुर्गुण मूर्खों ने कुत्तों से सीखे हैं अथवा कुत्तों ने मूर्खों से ? । योगवसिष्ठ के इस पद्य में वर्णित बीभत्स भाव को कालिदास ने ऊपर के पद्य में ग्रहण किया है। पर कालिदास ने काव्य कौसल से उसे अपनी कृति में हृदयग्राही शृङ्गाररसात्मक वर्णन में परिवर्तित कर दिया है।

कालिदास ने योगवासिष्ठ के कुछ वाक्यों को अविकल रूप में भी ग्रहण किये हैं। जैसे—

"नररसायनतृप्तिविमुक्तया प्रमदयामदयापितलज्जया ।"

निर्वाण प्र० ११५-३२

"उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके,
प्रणयतीव नखक्षतमण्डनं प्रमदयामदयापित लज्जया ।"

—रघुवंश ६।२६

इनमें रेखांकित वाक्यों में साम्य है।

शिवपुराण और कालिदास

"द्वयोरपि भवान् श्रेष्ठः सर्वगः सर्वशक्तिमान्,
वज्रं च निष्फलं स्याद्वै त्वं नु नैव कदाचन ।"

—शिवपुराण

इस पद्य का भावार्थ यह है—'आप श्रेष्ठ हैं, सर्व गति एवं सर्व शक्तिमान् है, वज्र तो कभी निष्फल हो भी जाता है, किन्तु आप कभी निष्फल नहीं होते। इसका भाव कालिदास ने—

"वज्रं तपो वीर्यमहासु कुंठं त्वं सर्वतोगामि च साधनं च ।"

—कुमारसंभव ३।१२

इस पद्य में प्रकारान्तर से यह प्रदर्शित किया है कि तप के प्रभाव से महा पुरुषों पर वज्र का प्रभाव कुंठित हो जाता है, किन्तु आपकी सर्वत्र गति है और आप कार्य-साधक हैं।

"अन्येषां गणना नास्ति पातयामि हरं यदि ।"

—शिवपुराण

कामदेव की उक्ति है—मैं भगवान् शंकर को परास्त कर सकता हूँ, तब दूसरों की तो गणना ही क्या है। कालिदास के—

"कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के ममधन्विनोन्ये ।"

—कुमारसभव

इस पद्य में भी कामदेव की उक्ति में यही कहा है।

वाल्मीकीय रामायण की अनेक सूक्तियों के भावों का कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनुसरण किया है, इस के बहुत से उदाहरण 'कालिदास का काव्य वैचित्र्य' शीर्षक निबन्ध में दिखाये गये हैं।

कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती महाकवि भास के वर्णनों के भावों का भी अनुसरण किया है। देखिए—

भास और कालिदास

"विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यय ।"

—स्वप्नवासवदत्ता (भास)

"विश्वासोपगमादभिन्नगतय: शब्दं सहन्ते मृगा: "

—शाकुन्तल (कालिदास)

इन दोनों पद्यों में विश्वास प्राप्त मृगों का एक समान वर्णन है।

"विदूषक—नाख्यास्यामि यथा सदष्टा मे जिह्वा ।"

—भास का स्वप्नवासवदत्ता

"विदूषक—एवं मया नियन्त्रिता जिह्वा यद्भवनोऽपि सहसा प्रतिवचन न ददामि ।"

—विक्रमोर्वशीय (कालिदास)

इन दोनों पद्यों में एक ही भाव है अर्थात् विदूषक कहता है कि मैंने जिह्वा को नियन्त्रित कर लिया है और मैं कुछ न बोलूंगा।

राजा—"पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यै
वासवदत्तावद्ध ननु तावन्मे मनो हरति ।"

—भास का स्वप्नवासवदत्ता

राजा कहता है कि यद्यपि मैं राणी पद्मावती को बहुत मानता हूं, तथापि वासवदत्ता मेरा मनहरण करती है। कालिदास ने इस पद्य के भाव को उर्वशी और राणी औशीनरी के विषय में राजा पुरुरवा के मुख से कहलाया है—

"राजा—उर्वशीगतमनसोपि मे स एव देव्या बहुमान:"

और—

"कालक्रमेण जगत: परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिमिव गच्छति भाग्यपंक्ति ।"

—भास का स्वप्नवासवदत्ता

अर्थात् रथ के चक्र (पहिए) की भांति क्रमशः संसार में भाग्य परिवर्तित होता रहता है। भास ने यह भाव मनुस्मृति से लिया है-

"चक्रवत्परिवर्तते दुःखानि च सुखानि च।"

इस भाव को कालिदास ने मेघदूत में यक्ष द्वारा उसकी पत्नी को कहलाया है।—

"कस्यैकान्तं सुखमुपगतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।"

—उत्तर मेघ ४९

और इसी भाव को अश्वघोष ने भी इसी प्रकार व्यक्त किया है—

"अतोपि नैकान्तसुखोस्तिकश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्।"

—बुद्धचरित १०।४३

भास के—

"अथवा सर्वमलंकारो भवति सुरूपाणां।"

—प्रतिमा नाटक

इस भाव को कालिदास ने शाकुन्तल नाटक में इस प्रकार व्यक्त किया है—

"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।"

भास के—

वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः।"

—प्रतिमा नाटक।

अर्थात् मधुर वचन बोलना ही अतिथि सत्कार है, इस भाव को कालिदास ने शाकुन्तल में इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

"भवतीनां सुनृतमेव गिराकृतमातिथ्यम्।"

इनके सिवाय कालिदास के वर्णनों का भाव उनके परवर्ती अनेक महाकवियों की रचनाओं में देखा जाता है—

कालिदास और अश्वघोष

कालिदास लिखते हैं—

"तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्,
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्।"

—कुमारसंभव ७।६२

अर्थात् अत्यन्त कुतूहलपूर्ण मद्यपान से सुगंधित एवं भ्रमर सदृश चचल नेत्र युक्त कामिनीजनों के मुखों से, महल के वातायन (खिडकियाँ), कमल पत्रों से विभूषित से दृष्टिगत होते थे। इसका अनुसरण अश्वघोष ने इस प्रकार किया है—

"वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परोपासितकुण्डलानि,
स्त्रीणा विरेजुर्मुखपंकजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पकजानि।"

—बुद्धचरित, ३-१६

इस में भी यही कहा गया है कि खिडकियों से झाँकने वाली रमणीजनों के मुख-कमल, जिनके कर्णभूषण एक दूसरे से रगड़ रहे थे, महलों में परस्पर सलग्न कमलों की भाति शोभित हो रहे थे।

कालिदास ने भगवती पार्वती की किंकर्तव्य विमूढता का एक चित्र चित्रण किया है—

"मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिंधुः,
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।"

—कुमारसंभव ५, ८५

अर्थात ब्रह्मचारी के कपट वेष को त्याग कर जब भगवान् शकर सहसा सम्मुख आ खडे हुए तब पार्वतीजी न तो आगे को बढ सकीं और न वहीं रुक सकीं—जैसे बहती हुई नदी का प्रवाह मार्ग में पर्वत के आ जाने पर आकुलित होकर न आगे को बढ सकता है और न वहाँ रुकता ही है। इस भाव को अश्वघोष ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"त गौरव बुद्धगत चकर्ष भार्यानुराग पुनराचकर्ष,
सोनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तर स्तरगेष्विव राजहसः।"

—सौंदरानद-४-४२

कालिदास के—

"एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय' कान्तमिदं वपुश्च,
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढ प्रतिभासि मे त्व।"२८

—रघुवंश २, ४७,

इस पद्य में नंदिनी धेनु द्वारा माया निर्मित सिंह राजा दिलीप के प्रति कहता है—"तू चक्रवर्ती है, तरुण है, सुन्दर है, अतएव इस छोटी सी बात के लिये (इस गाय को बचाने के लिये) जो तू अपना शरीर मुझे देकर महान् हानि उठा रहा है, यह तेरी मूर्खता है। इसी भाव को अश्व घोष ने[1]—

"आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तिमिदं वपुश्च,
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाकएवाभिरता न राज्ये।"

—बुद्धचरित १०, ४

इस प्रकार व्यक्त किया है।

कालिदास और प्रवरसेन

कालिदास ने रघुवंश के—

"तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखप्रसादं, गुरुर्नृपाणां गुरुवे निवेद्य,
प्रहर्षचिन्हानुमितं प्रियायै, शशंस वाचा पुनरुक्तयेव।"

—रघुवंश, २।६८

इस पद्य में कहा है कि राजा दिलीप ने नन्दिनी धेनु का प्रसन्न होना प्रथम तो अपने मुख के हर्ष जनित चिन्हों से गुरुवर्य महामुनि वशिष्ठजी को निवेदन किया। और उसके बाद अपनी महारानी को वाक्य द्वारा सूचित किया। इस भाव का सेतुबंध काव्य के प्रणेता महाराजद्वितीय प्रवरसेन ने—

"पढमं विअ मारुइणा हरिसभरिजन्त लोअणेण मुहेन,
जनअतणआपउत्ति पच्छा वाआई णिरवसेसं सिट्ठा।

(भावार्थ) भगवती जनकनन्दिनी का समाचार भगवान् रामचन्द्र को मारुतसुत हनुमान ने पहिले तो हर्षोत्फुल्ल नेत्रमुख-मुद्रा द्वारा सूचित किया और बाद में सीताजी का कुशल-सम्वाद वाणी द्वारा निवेदन किया। इस पद्य में ग्रहण किया है।

---

१ कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास ने अश्वघोष का अनुसरण किया है।

कालिदास और वत्सभट्टि

"विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः"

उत्तर मेघदूत ।[1]

इस पद्य में अलका के गगनचुम्बी भवनों के साथ मेघों की समानता कही गई है। इसका भाव वत्सभट्टि ने मालव प्रान्तान्तर्गत मन्दसोर के सूर्य मन्दिर के शिला लेख के—

"चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि,
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ।"

इस पद्य में ग्रहण किया है।

कालिदास और भवभूति

"तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनीवासयष्टि—
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥"

—मेघदूत, उ० मे० १८

यक्ष कहता है—"मेरे निवासस्थान में अशोक आदि वृक्षों

---

१ विद्युत् ऐन्द्री-धनु सहित तू वे सकान्ता सचित्र,
है तू घोरध्वनित घन, वे वाद्यसंगीत युक्त ।
है ऊंचा तू सजल, मणि-भू युक्त अभ्रंकषा वे,
देखेगा तू भवन उसके तुल्य तेरी प्रभा के ।

२ दोनों वृक्षों-गत स्फटिक की एक चौकी सुहाती,
जिसकी हैमी छड़ मणि जड़ी बाँस की सी जनाती ।
बैठे तेरा सुहृद उसपे साँझ में आ कलापी,
मेरी प्यारी वलय रव दे ताल, जिसको नचाती ।

—हिन्दी मेघदूत विमर्श

के मध्य में मरकतमणि के स्तंभ के ऊपर स्फटिक मणि की चौकी है उस चौकी पर बैठे हुए मयूर को मेरी पत्नि अपने कंकण से ताल देकर नचाया करती है।" इसी भाव को भवभूति ने—

"भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः,
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या,
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं,
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि।'

—उत्तररामचरित ३, १६.

इस पद्य में व्यक्त किया है। भवभूति ने भगवती जनकनन्दिनी द्वारा कर किसलय के तालो से मयूर को नचाने का वर्णन किया है।

"तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं रतनसंबाधमुरो जघान च,
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।"

—कुमारसंभव ४।२६

अर्थात् भगवान् शंकर द्वारा कामदेव को भष्मावशेष कर देने पर आश्वासन देने आये हुए वसन्त ऋतु को देखकर रति का दुःख और भी उमड़ आया, क्योंकि स्वजनों के सम्मुख छिपे हुए दुःख का द्वार खुल जाता है। कालिदास के इस वर्णन को भवभूति ने—

"संतानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि,
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतः सहस्रैरिव संप्लवंते॥"

—उत्तर रामचरित ४।८

इस पद्य में इस प्रकार व्यक्त किया है। अर्थात् निर्वासित जनकनन्दिनी के प्रसंग में दुखित महारानी कौशल्या के विषय में अरुंधती जी कहती है, प्रियजनों को देखकर बन्धु-वियोग जनित दुःख के सहस्रों श्रोत फूट पड़ते है।

कालिदास और माघ

'अम्भोविन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः,
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।

त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः,
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि[1] ॥"
—मेघदूत- २२

इस भाव को महाकवि माघने इस प्रकार व्यक्त किया है.—

'प्रणयकोपभृतोपि पराङ्मुखाः,
सपदिवारिधरारवभीरव ।
प्रणयिनः परिरब्धुमथाङ्गना,
ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः ।'
—शिशुपालवध, ६ ३८

कालिदासने मेघ-गर्जना से भयभीत अतएव कम्पायमान होने वाली आकाशगामिनी देवाङ्गनाओं द्वारा अपने आप प्रियतमों का आलिङ्गन किया जाना वर्णन किया है। माघ ने प्रणय कोपवती मानिनी नायिकाओं का मेघ-गर्जना के कारण स्वय मान छुटजाने पर उनके द्वारा अपने प्रणयीजनों के आलिङ्गन का उल्लेख किया है।

कालिदास और अमरुक

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकल कूजित सारसाना,
'प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामादमैत्रीकषाय ।
यत्र स्त्रीणा हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूल',
शिप्रावात, प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार[2]।"
—मेघदूत ३२

---

१ भावनुवाद—
लेते वर्षा कण सुपटुता देखते चातकों को,
बद्धश्रेणी गिन गगन में जो दिखाते बकों को।
मानगे वे गुण बहुत ही सिद्ध तेरा विहारी
मारी तेरी ध्वनि सुन डरी अङ्ग में देख प्यारी।
—हिन्दी मेघदूत विमर्श

२ भावानुवाद
चेतो हारी ध्वनि मदभरी सारसों की बढा के,
प्रातः फूले कमल-रज की गध को भी उड़ा के।

कालिदास के इस वर्णन का भाव सुप्रसिद्ध अमरुशतक के प्रणेता अमरुक ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

'रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदादिबिन्दुप्लुतो,
व्यालोलालकवल्लरी प्रचलयन् धुन्वन् नितम्बाम्बरम्।
प्रातर्वाति मधौ प्रकामविलसद्राजीवराजी रजो,
जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः।"

—अमरुशतक, ५८

कालिदास ने उज्जयिनी के वर्णन में शिप्रा नदी के प्रातःकालीन शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन द्वारा प्रियतमों की भांति प्रार्थना में चाटुकारी प्रदर्शित करते हुए पौराङ्गनाओं का रति-श्रम जनित खेद दूर किया जाना कहा है। अमरुक ने यही भाव बसन्त के पवन द्वारा व्यक्त किया है। कालिदास के पद्य में पवन के 'प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः'—इस विशेषण द्वारा जो व्यञ्जना का चमत्कार है, वह अमरुक के पद्य में नहीं, क्योंकि पूर्वार्द्ध में उसे स्पष्ट कह दिया है। इसमें कालिदास के काव्य की विशेषता का प्रतिपादन होता है।

इन के सिवा कालिदास के मेघदूत की हृदयग्राही अनेक सूक्तियों का अन्यान्य महाकवियों द्वारा अनुसरण किया गया है। इसका विस्तृत विवरण "कालिदास का काव्य वैचित्र्य" शीर्षक निबंध में मिलेगा।

उल्लिखित उदाहरणों से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती महाकवियों के चित्ताकर्षक भावों का प्रयोग परवर्ती महाकवियों ने निस्सङ्कोच किया है। कालिदास, अश्वघोष, बाण, भवभूति, माघ, भारवि, हर्ष एवं अमरुक आदि महान् प्रतिभाशाली कवि भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। भाव अपहरण के विषय में महान् साहित्याचार्यों ने बहुत कुछ विवेचन किया है। उन्होंने भावार्थ या शब्दार्थ अपहरण को, यदि वह प्रकारान्तर से व्यक्त किया गया हो तो दूषित नहीं माना है। कहा है—

शिप्रा-वायु प्रिय इव जहाँ प्रार्थना से रिझाता
कान्ताओं का श्रम सुरत का स्पर्श से है मिटाता

—हिंदी मेघदूत विमर्श

"अतोह्यन्यतमेनापि प्रकारान्तरभूषिता,
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ।"

—ध्वन्यालोक

इनके भी उदाहरण देखिये—

स्मित किंचिन्मुग्ध तरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्य किमिव हि न रम्य मृगदृशः ।[1]"

—ध्वन्यालोक उ० ४

और—

"सविभ्रमस्मितोद्भेदो लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः"

—ध्वन्यालोक २०४

यह दोनों पद्य ध्वन्यालोक में उद्धृत किये गये हैं। यद्यपि ऊपर वाले पद्य में, नीचे वाले प्राचीन पद्य का भाव साम्य अवश्य है, तथापि प्राचीन पद्य में कामिनी के रूप-लावण्य का वाच्यार्थ में ही स्पष्ट वर्णन है। किन्तु ऊपर वाले पद्य में स्मित को किंचित मुग्ध, कटाक्ष-पात को तरल मधुर, वाणी को अभिनव विलासयुक्त सरस कहा गया है इसका वाच्यार्थ असमव होने के कारण वाच्यार्थ का बाध होने के कारण लक्षणमूला ध्वनि क चमत्कार द्वारा अपूर्वता आ गई है।

"एव वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी,
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती,"

—कुमारसभव

कालिदास के इस पद्य में यद्यपि—

"कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गम
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनतानना"

---

१ बोलन में अनमोलन की सुविलासमई सरसाई जनावै,
त्यों अवलोकन हूँ में अली तरलाइ भरी मधुराई सुहावै,
गौनन में किसलाइ छइ मुखमें हू कछू मुसकान लसावै,
जोवन के सुसँजोगन सों रमनीजन का न लुभाई सुपावे।

—लेखक द्वारा अनुवादित

इस प्राचीन पद्य का भाव साम्य है, तथापि प्राचीन पद्य में विवाहादि के संबन्ध की बात सुन कर कुमारिकाओं को जो स्वाभाविक लज्जा होती है वह वाच्यार्थ में स्पष्ट है। किन्तु कुमारसभव के पद्य में हिमाचल के समीप बैठी हुई पार्वतीजी ने जब ऋषियों द्वारा भगवान् शंकर के सम्बन्ध की बात सुनी तब जो उनको लज्जा हुई उसे स्पष्ट न कह कर "लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इस वाक्य द्वारा लज्जाभाव व्यंग्यार्थ में सूचित किया गया है। अतः अर्थशक्तिउद्भवध्वनि होने के कारण अपूर्वता आ गई है।

कुसुमबान सहकार के मधु केवल न सजातु,
सनमुख करि तरुनीन के स्मर-कर में पकरातु।

—लेखक।

और—

आवत ही रितुराज के सहसा इक ही काल,
तरु रसाल के साथ ही रसिकहु भये रसाल।

—लेखक

इन दोनों दोहों में बसंत की उद्दीपनता का वर्णन है। दूसरे दोहे में आम्र मंजरी के साथ रसिक जनों का भी रस-पूर्ण होना कहा गया है अतः 'सहोक्ति' अलंकार है। किन्तु पहले दोहे में अर्थशक्ति उद्भव कवि प्रौढोक्ति सिद्ध ध्वनि है। भाव साम्य होने पर भी पहले दोहे में नवीनता आ गई है।

जोबन को अवलंब लहि तो उरोज सखि, चारु,
ऊँचे उठि मानों करहि मनमथ को सतकारु।

और

बढ़त जात है बाल उर ज्यों ज्यों सुघर उरोज,
त्यों त्यों लहि थल बहुल मनु प्रविसित जात मनोज।

ये दोनों दोहे ध्वन्यालोक के पद्यों के लेखक द्वारा किये गए अनुवाद हैं। इन दोनों में दूसरा पद्य अधिक तर प्राचीन है। दोनों ही

में ज्ञातयौवना मुग्धा का वर्णन है। दोनों में उत्प्रेक्षा अलंकार ही है। पहिले पद्य में मुग्धा नायिका के प्रति सखि के वाक्य में "अब तेरे रग ढग और ही और होते जाते हैं" इस कवि निबद्धपात्र की प्रौढोक्तिसिद्ध अनुरणन रूप ध्वनि द्वारा, दूसरे पद्य के वर्णन की अपेक्षा पहिले में अपूर्वता आ गई है।

"तिय कत कमनैती पढ़ी बिन जिह भौंह कमान,
चल चित वेधत चुकति नहिं बंक विलोकनि बान"

—कविवर बिहारीलाल।

इस दोहा में—

"मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते,
यथा विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न मायकै"

इस प्राचीन श्लोक का भाव लिया गया है। प्राचीन पद्य में सायक (बाण) के बिना शीलता आदि गुणों से (श्लेषार्थ धनुष की डोरी मात्र से) चित्त रूप लक्ष्य के भेदन का वर्णन है। दोहे में भी यही बात है। किन्तु दोहे में भौंह में कमान का और वक्र विलोकन में बाण का रूपक किया गया है अतः अपूर्वता आ गई है।

"कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराय,
पंजरगत मजार ढिंग सुक लौं सूकति जाय।"

—बिहारीलाल

इस दोहा का भाव निम्नलिखित पद्य से लिया गया है—

"प्रेर्याम सुविषमशीले शुद्धमना देवरेऽसदृशचित्ते,
न वदति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुपा किन्तु।"

—प्राचीन गाथा

इस पद्य का भाव है—

शीलवती नायका ने देवर की कुदृष्टि अपने ऊपर जानकर भी इस भय से कि भ्राताओं में परस्पर कलह हो जायगी, यह बात अपने पति से (जो कोपशील था) नहीं कही। किन्तु वह बेचारी इस दुःख से स्वयं दुबली हो गई। दोहे में भी यही भाव है किन्तु दोहे में नायिका के दुबले पने को बिल्ली से भयभीत पींजरे में बंद हुए शुक की उपमा दी गई है। इससे वर्णन में अपूर्वता आ गई है।

"पिय तिय सौं हंसिकै कह्यौ लख्यौ दिठौना दीन,
चन्दमुखी मुखचन्द सो भलो चन्द सम कीन"
—बिहारीलाल ।

इस दोहे की रचना—

"घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण,
छित्तं मुहं हसिजइ चन्दावत्थं गअं पइणा ।"
—गाथासप्तशती ।

(संस्कृत अनुवाद—"गैहिन्या माहानसकर्ममसीमलिनितेन हस्तेन,
स्पृष्टंमुखमुपहसति हि चन्द्रावस्थांगतं दयितः ।")

इस गाथा के आधार पर की गई है । धूंए से काले हुए बरतन का कज्जल नायिका के हाथ से लग गया और उस हाथ से उसके मुख पर काला चिन्ह लग गया । इस चिन्ह को देख कर नायक ने हँस कर कहा—आज सचमुच तूने अपने मुख को सकलंक चन्द्रमा के समान बना लिया है । दोहे में गाथा के समान भाव होने पर भी दिठौना (नजर न लगने के लिये जो काला चिन्ह लगाया जाता है) द्वारा मुख को सकलंक चन्द्रमा के सदृश कहा गया है । अतः इस वर्णन में और अधिक सरसता आ गई है ।

निष्कर्ष यह है कि परवर्ती कवि की रचना में भाव-साम्य होने पर भी किसी प्रकार की अपूर्वता आजाती है तो वहाँ भाव-अपहरण दोष नहीं समझा जाता है—

"दृष्टपूर्वाअपि ह्यर्था काव्येरसंपरिग्रहात्,
सर्वे नवइवाभान्ति मधुमासइवद्रुमाः ।"
—ध्वन्यालोक उ० ४

अर्थात् प्राचीन कवि द्वारा प्रयुक्त भावार्थ, रसादि ध्वनि और अलंकारादि के संयोग से विभूपित होकर विशेषता को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे, वसन्त-ऋतु अपने रस संचार से उन्हीं पुराने वृक्ष और लतिकाओं को, किसी को कोमल किशलयों से, किसी को विचित्र कुसुमावलियों से और किसी को मनोहारी सौरभ से, नूतनता में परिवर्तित कर देता है ।

—:०:—

महाकवि भारवि

देव-गिरा के कविराजों में गण्यमान भारवि का स्थान,
उनका काव्य अर्थ गौरव में अति प्रसिद्ध है नीति प्रधान।
हितकारक होकर दुष्कर है श्रवण सुखद मृदु वचन प्रयोग,
पर भारवि की कृति में इनका देखा जाता उचित सुयोग।

महाकवि भारवि किस समय में हुए और किस स्थान एवं कुल को उन्होंने अपने जन्म से सुशोभित किया, इन बातों का निर्णय करना तो बड़ा दुःसाध्य है। विश्वसनीय प्राचीन इतिहास अनुपलब्ध है, अतएव प्राचीन महाकवियों के काल-निर्णय के लिये दो ही मार्ग हैं, एक तो अन्तर्प्रमाण अर्थात् किसी कवि द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में अपने विषय में कुछ उल्लेख किया जाना, और दूसरा बाह्य प्रमाण अर्थात् किसी कवि के विषय में अथवा उसके ग्रन्थ के विषय में किसी दूसरे विद्वान् द्वारा किसी ग्रंथ में उल्लेख किया जाना, अथवा कोई प्राचीन शिलालेख या लोकप्रचलित दन्त-कथा का किसी कवि के विषय में होना।

खेद है कि अन्तः प्रमाणों का तो प्राचीन विद्वानों के ग्रन्थों में यहाँ तक अभाव है कि प्रायः ग्रन्थान्त में भी ग्रन्थकर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख मात्र भी नहीं किया है, फिर भी उन कवियों का सौभाग्य ही है कि सहस्रों वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी, वे ग्रन्थ अब तक उन्हीं के नाम से प्रचलित हैं। हाँ दूसरे प्रकार के बाह्य प्रमाण प्रायः कुछ उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनमें भी लोक-प्रचलित किम्वदन्तियों का आधार तो प्रायः भ्रमोत्पादक ही होता है अतएव प्राचीन लेख एवं दानपत्रों द्वारा जो प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं, उन्हीं पर आधार रख कर कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु ऐसे प्रमाण भी किसी सौभाग्यशाली कवि के विषय में ही मिलते हैं, उन्हींके द्वारा कुछ संक्षिप्त सामग्री प्राप्त हो सकती है। अस्तु,

हमारे कवि-भूषण भारवि के विषय में देखा जाता है कि अंतः प्रमाण के लिये तो उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "किरातार्जुनीय" महाकाव्य में उनका नाम तक दृष्टिगत नहीं होता है, हाँ वाह्य प्रमाण कुछ अवश्य उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा भारवि के समय का संक्षिप्त परिचय मिलता है।

भारवि का समय

बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में मुद्रित "काव्यमाला" सीरीज में प्राचीन लेखमाला नामक पुस्तक छपी है, उसमें प्रचीन शिलालेख आदि का संग्रह किया गया है। पुस्तक के प्रथम भाग में त्रयोदश संख्या का प्राचीन लेख, जो महाराज पृथ्वी कोंकण का दानपत्र मुद्रित हुआ है; उस में लिखा है—

'किरातार्जुनीय पंचदशसर्गादिकोकारो दुर्विनीतनामधेयः[१]"

यह शिलालेख शक ६६८ (सन् ७७६ ई०) का लिखा हुआ है, इस दानपत्र में जिस दुर्विनीत का नामोल्लेख है, उसके छः या सात पढ़ियों के बाद पृथ्वी कोंकण राजा हुआ था। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये २५-२५ वर्ष का समय भी रक्खा जाय तो दुर्विनीत का समय लगभग ईसवी की छठी शती होता है। इसके अतिरिक्त उसी पुस्तक के प्रथम भाग में दूसरा एक षोडस संख्या का शिलालेख है, उसके अन्त में निम्न लिखित पद्य है—

"येना योजि नवेश्मस्थिरमर्थविधो विवेकिना जिनबेश्म,
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः" ।

यह शिलालेख दक्षिण प्रान्त के बीजापुर जिले के एक गांव के जैन मंदिर में मिला है। यह मंदिर रविकीर्तिका बनवाया हुआ है,

१ इस में कोंकण के महाराज दुर्विनीत को किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग का टीकाकार बतलाया गया है। किरातार्जुनीय की अनेक टीकाओं में सब से प्राचीन टीका दुर्विनीत की ही है। दुर्विनीत का राज्यकाल सन् ५६७-६१७ है,

रविकीर्ति जैन कवि था और चालुक्य नरेश द्वितीय पुलकेशी के आश्रित था। इस शिलालेख के पद्यों की रचना भी रविकीर्ति की ही है, जैसा कि उसने स्वयं उसी शिलालेख में लिखा है—

"प्रशस्तेर्वसतेश्चापि जिनस्य त्रिजगद्गुरोः,
कर्ता कारयिता चापि रविकीर्तिः कृतीस्वयम्"

द्वितीय पुलकेशी का नामान्तर सत्याश्रय था - 'सत्याश्रये शासति'—इस मंदिर के निर्माण का समय रविकीर्ति के कथनानुसार शक ५५६ (ई० सन् ६३४-३५) है। महाभारत के युद्ध को उस समय ३७३५ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महाभारत का युद्ध ई० सन् ३०३१ के पूर्व हो चुका था[1]। बस इसके अतिरिक्त भारवि के समय निर्णय के लिये कोई अन्य विश्वसनीय उल्लेख अबतक उपलब्ध नहीं हो सका है। ये दोनों लेख "इन्डियनअंटिक्वेरी" नामक अंगरेजी पत्रिका में काव्यमाला में लिये गये हैं। इन दोनों लेखों से यह भी सिद्ध होता है। कि ईसा की सप्तम शताब्दी के प्रारंभ में महाकवि भारवि और उनके कीर्तिस्तंभ 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य को उतनी ही प्रसिद्धि उपलब्ध थी, जितनी कि कविशेखर कालिदास और उनके काव्यों को। इस प्रकार की प्रसिद्धि अल्प समय में प्राप्त नहीं हो सकती, अतएव यह बात असंदिग्ध है कि ईसवी की छठी शताब्दी के लगभग हमारे महाकवि भारवि हुए हैं। इसके सिवा "विएना ओरिएंटल जर्नल" नामक त्रैमासिक अंग्रेजी पुस्तक के तृतीय भाग के द्वितीय खंड (पृष्ठ १४०) में मि० जेकोबी भी यह कहते हैं—

'We therefore can not place Magh later than

---

१ रविकीर्ति ने स्वयं कहा है।—

त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेस्वब्देषु पञ्चसु
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।"

इस लेख द्वारा महाभारत-युद्ध का समय ईसवी सन् के ३००० वर्ष पूर्व होना भी निर्विवाद सिद्ध होता है।

about the middle of the sixth century; and Bharvi, who is older than Magh by at least a few decades the begining of the sixth century.

इस वाक्य के अनुसार सन् ६०० ई० के मध्य भाग से किसी प्रकार भी शिशुपाल बध-प्रणेता महाकवि माघ अर्वाचीन नहीं हैं। और भारवि उनसे भी पूर्ववर्ती हैं। क्योंकि विद्वानों का मत है कि माघ ने शिशुपाल-बध की रचना भारवि के किरातार्जुनीय के आदर्श पर ही की है। 'दक्षिण भारती ग्रन्थमाला" के तृतीय प्रसून में महाकवि दण्डी-प्रणीत "अवन्तिसुन्दरी कथा" नामक एक ग्रन्थ (सन् १९२४ में) मुद्रित हुआ है। यद्यपि उसके संपादक महाशयों ने उसकी भूमिका में आचार्य दण्डी को ही इस ग्रन्थ का प्रणेता माना है, और उनका यह भी कहना है कि किरातार्जुनीय महाकाव्य के रचयिता भारवि आचार्य दण्डी के पौत्र थे। किन्तु इस मत को डा० सुशीलकुमार दे आदि पुरातत्व-विज्ञ साहित्यिक विद्वानों ने निर्मूल बतलाया है अतएव जबतक अन्य दृढ़ प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध न हो जाय कि वस्तुतः "भारवि" आचार्य दण्डी के पौत्र थे, यह बात संभवतः संदिग्ध ही है।

भारवि क्या दाक्षिणात्य थे ?

किरातार्जुनीय के अठारहवें सर्ग में निम्न लिखित पद्य है—

"उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहते ययुर्जुनमुष्टयः,
भृशरया इव सह्य महीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः।"

इस में भगवान् शूलपाणि के उरुस्थल पर पृथानन्दन अर्जुन के मुष्टि-प्रहार की व्यर्थता दिखाने के लिये विशाल सह्याद्रि के तटपर बारंबार टक्कर खाती हुई समुद्र की तीव्र महातरंगों की उपमा दी गई है। आश्चर्य का विषय है कि इसी के आधार पर श्रीराजाराम रामकृष्ण आदि महाराष्ट्रीय विद्वानों ने 'महाट्या चा संबंधा ने चार उद्गार" नामक महाराष्ट्रीय भाषा से निज-ग्रथित संदर्भ में भारवि का दाक्षिणात्य, महाराष्ट्र, अथवा द्रविड होना माना है और श्रीगुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य ने किरातार्जुनीय के अपने प्रकाशित

संस्करण में इन्द्रकील पर्वत एव हिमालय निवासी किरातों का भारवि द्वारा वर्णन किये जाने के कारण भारवि को हिमालय प्रान्त का बतलाया है। विचार का स्थल है कि यदि यहां सह्याद्रि के इस दृश्य की उपमा मात्र ही मे भारवि को दाक्षिणात्य और इन्द्रकील पर्वत के वर्णन द्वारा उसे हिमालय प्रान्तवर्ती मान लिया जाय, तब तो दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध मलय, सह्य और सुवेलादि पर्वतों का और कावेरी, गोदावरी, ताम्रपर्णी, भीमा एव वेणा आदि नदियों का वर्णन करने वाला 'हरिविजय' महाकाव्य का कर्त्ता काश्मीर देशीय महाकवि रत्नाकर भी दाक्षिणात्य माना जाना चाहिये। यही क्यों विन्ध्याटवी वर्णन करने वाला कादम्बरी प्रणेता बाण भी विन्ध्यवासी क्यों न माना जाय ?

भारवि की प्रसिद्धि

अनल्प प्रतिभाशाली कविवर भारवि हमारे भारतीय प्राचीन सस्कृत साहित्य ससार में उतने ही गौरवास्पद हैं, जितने कविकुल शेखर कालिदास। हा, इस समय जितनी प्रसिद्धि कालिदास की है, उतनी भारवि की नहीं, पर इसमे यह नहीं समझना चाहिये कि भारवि में तादृश प्रकाण्ड पाण्डित्य और विचित्र काव्य शक्ति नहीं थी। किन्तु इसका एक मात्र कारण यही है कि प्रसिद्धि प्राप्त होना और न होना भाग्याधीन है। देखिये, कालिदास के काव्य और उनकी प्रसिद्धि तो सभवत उनके समक्ष ही होगई थी, किंतु उन्हीं के समान प्रतिभाशाली भवभूति अपने जीवन काल में समादृत न होने के कारण उनको हतोत्साहित होकर "मालतीमाधव" नाटक में अपना हृदयोद्गार इस प्रकार प्रकट करना पड़ा है—

"ये नाम केचिदिह न प्रथयत्यवज्ञाँ,
जानन्तु ते किमपि तान्प्रति नैष यत्न ,
उत्पत्स्यतेस्ति मम कोपि समानधर्मा
कालोह्यय निरवधिविपुला च पृथ्वी।"

अस्तु

भारवि की ग्रंथरचना

भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य "किरातार्जुनीय" के सिवा अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। यद्यपि भारवि के नाम से कुछ मुक्तक पद्य संस्कृत के सुभाषित संग्रहात्मक ग्रंथों में मिलते हैं—

"सोद्वेगंकरिकृत्तिवाससि भवद् व्रीडान्वितं ब्रह्मणि,
त्रैलोक्यैकगुरावनादरवलत्तारं शचीभर्तरि ।
लासामीलितपद्मभास्वतिलसत्प्रेमप्रसन्नं हरौ ,
क्षीरोदोत्थितया धिया विनिहितं चक्षुः शिवायास्त वः ।"

—सदुक्तिकर्णामृत

"कामिनीवदननिर्जितकान्तिः शोभितुं न हि शशाक शशांकः
लज्जयैव विपुलं वपुराप्तुं शीधुपूर्णचषकेषु ममज्ज ।"

—वल्लभदेव कृत सुभाषितावली सं० २०१५

"सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जैनो बहुजल्पः,
विद्यते न हि कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः ।"

—सुभाषितावली संख्या २६०५

"जितेंद्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते,
गुणाधिके पुंसि जनो नु रज्यते जनानुरागः प्रभवा हि संपदः ।'

—सुभाषितावली संख्या २६१७

अस्तु ! और ग्रंथ हो या न हो, भारवि की लोकोत्तर प्रतिभा के परिचय के लिये एक "किरातार्जुनीय" महाकाव्य ही पर्याप्त है ! यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की उच्च शिक्षा के पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित है। इस महाकाव्य की रचना महाभारत के वनपर्वान्तर्गत २६ वें अध्याय से ४१ वें अध्याय तक जो अर्जुनाभिगमन और कैरात पर्व हैं, उसी इतिहास के आधार पर की गई है। भारतीय इतिहास में भारवि ने स्वतंत्रता से बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। महाकाव्यों में जो जो विषय आवश्यक हैं, उन सबका समावेश कवि ने इस महाकाव्य में विस्तार के साथ किया है। इस काव्य में वर्णित विषयों का एक प्राचीन पद्य में संक्षिप्त दिक्दर्शन इस प्रकार कराया गया है—

९

"नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः,
तस्योत्कर्षकृतेनुवर्णिततमो दिव्यः किरातः पुनः।
शृंगारादिरसोयमत्र विजयी वीरप्रधानो रस.,
शैलादिनि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभ. फलम्।"

अर्थात् किरातार्जुनीय महाकाव्य का नायक मध्यम पाण्डव (अर्जुन) है-जो नारायण के अश से उत्पन्न है। उनका उत्कर्ष दिखाने के लिये ही दिव्य किरात रूप धारी श्रीशंकर का वर्णन है। इस में वीर रस प्रधान है और शृंगारादि रस गौण। पर्वतों आदि प्राकृतिक दृश्यों का विस्तृत वर्णन है और अर्जुन को पाशुपत नामक अस्त्र का प्राप्त होना ही इसका मुख्य फल है। प्रारभ में दुर्योधन के यहा से लौट कर आये हुये दूत द्वारा—जिसे कपट द्यूत में हारकर वन में आये हुये राजा युधिष्ठिर ने भेजा था—दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था का युधिष्ठिर के प्रति वर्णन है। फिर राजा युधिष्ठिर और द्रौपदी एव भीमसेन का सम्वाद है। उसी समय कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास मुनि का आगमन और उनकी आज्ञानुसार राजा युधिष्ठिर द्वारा अनुमोदित वीराग्रगण्य अर्जुन का इन्द्रकील नामक पर्वत पर जाकर देवराज इन्द्र से मिलना, अर्जुन को इन्द्र द्वारा श्रीभूतभावन महादेव के प्रसन्नार्थ तपश्चर्या का उपदेश, पश्चात् शूलपाणि देवाधिदेव भगवान् शकर का किरात वेष धारण करकेससैन्य प्रस्थान, मूक-दैत्य का वाराह रूप धारण करक आना, उसके मारने पर लीला-किरात श्रीसदाशिव और अर्जुन के परस्पर विवाद पूर्वक लोमहर्षण सग्राम में अर्जुन के पराक्रम पर भगवान् गिरिजानाथ का प्रसन्न होना और अर्जुन के स्तुति करने पर उनके द्वारा अर्जुन को पाशुपतास्त्र का देना इत्यादि का वर्णन है। इसी वर्णन में प्रसंगानुसार गंधर्वों की पुष्पावचय क्रीडा, अप्सराओं का स-विलास अर्जुन के पास आना, जलक्रीडा, सायकाल, चद्रोदय, सुरत, पानगोष्ठी और ऋतु वर्णन आदि शृगाररसात्मक वर्णन का समावेश किया गया है, जैसा कि सभी महाकाव्यों में होता है। इस महाकाव्य में १८ सर्ग है। यों तो भारवि ने अपने इस काव्य में महाकाव्यों के वर्णनीय सभी विषयो का बडा चित्ताकर्षक वर्णन किया ही है। फिर भी प्रथम सर्ग में

महाराज युधिष्ठिर को वनेचर दूत द्वारा दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था के वर्णन में और दूसरे एवं तीसरे सर्गों में युधिष्ठिर, द्रौपदी और भीमसेन के परस्पर सम्वाद में एवं १३ वें और १४ वें सर्ग में किरात वेषधारी श्रीशंकर के दूत और अर्जुन के संवाद में भारवि ने जो राजनीति और सामान्यनीति के आदर्श-सिद्धान्त अपनी मनोहारी रचना में गर्भित किये हैं, वे वस्तुतः अनुपम है। यद्यपि महाकवि कालिदास आदि के रघुवंशादि काव्य-नाटकों में भी प्रसंगानुसार नीति विषयक उपदेशात्मक सिद्धान्तों का बहुत कुछ समावेश है। किन्तु भारवि के समान उनमें नीति-वाक्यों का बाहुल्य एवं एकत्र समावेश दृष्टिगत नहीं होता है। महान् साहित्याचार्य श्रीमम्मट ने काव्य द्वारा जो लोक-व्यवहार का ज्ञान होना बतलाया है, वह भारवि के इस ग्रन्थ से चरितार्थ हो रहा है। अतएव भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य को नीति-प्रधान काव्य ही कहना उचित प्रतीत होता है।

रचना शैली

भारवि की रचना में अर्थ-गौरव का होना प्रसिद्ध है—"भारवेरर्थगौरवम्।" किरातार्जुनीय की शब्दार्थदीपिका[1] नाम की टीका के प्रणेता चित्रभानु ने बहुत ही यथार्थ कहा है—

"गम्भीरता भारविभारतीषु या प्रसन्नता चानुपदं प्रतीयते।
इयत्तयातामवगन्तुमुद्यतो ध्रुवं सुधासिन्धुतलं दिदृक्षते।"

अर्थात् भारवि की रचना के प्रत्येक पद में जो अर्थ-गाम्भीर्य और प्रसाद गुण है, उनकी सीमा जानने का जो प्रयास करता है, वह निस्संदेह सुधा के समुद्र के तलस्पर्श करने की इच्छा करता है। महाकाव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमल्लिनाथ ने भी भारवि के काव्य-सौष्ठव पर मुग्ध होकर आनन्दोद्गार किया है—

"नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते,
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्।"

---

१. इस टीका के तीन सर्ग अनंतशयन ग्रंथ माला में त्रिवेंद्रम की संस्कृत सीरीज में सन् १९१२ ई० में मुद्रित हुए हैं। यह टीका बड़ी महत्वपूर्ण है।

अर्थात् भारवि का काव्य नारिकेल फल के समान ऊपर से कठोर होते हुये भी अन्दर से रस पूर्ण है।

स्वय महाकवि भारवि के शब्दों में उनकी रचना के विषय में निम्न लिखित पद्यों में कुछ सकेत दृष्टिगत होता है–

"स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्,
रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहित क्वचित्।"
२–२७

इस पद्य में भीमसेन की वाक्य-रचना की प्रशसा में राजा युधिष्ठिर द्वारा कहलाया है, कि तुम्हारे वाक्य बडे नीति-गर्भ हैं, उनमें ऐसे एक भी पद का प्रयोग नहीं, जिसका अर्थ स्पष्ट न हो, और अर्थ-गौरव रहित हो। इसके अतिरिक्त तुम्हारे वाक्यों में पूर्वापर सम्बध का निर्वाह भी उत्तम प्रकार से किया गया है। एक शब्द भी अप्रासगिक नहीं है, उसमें पिष्ट-पेषण भी नहीं है–एक बार कही हुई बात को फिर बारबार नहीं कहा गया है। इसी प्रकार आगे–

"विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्,
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणा प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।"
१४–३

इस पद्य में कपट किरातरूपधारी भगवान् शकर के प्रति अर्जुन के प्रतिवचन में कहलाया है कि स्पष्ट वर्ण रूपी आभरण धारण करने वाली, सुनने में आनन्द देने वाली, विद्वेषियों के हृदय को भी प्रसन्न करने वाली, सुन्दर एव गम्भीर पदों से परिपूर्ण वाणी का प्राप्त होना बडा दुर्लभ है, ऐसी वाणी पुण्यात्मा जनों को ही उपलब्ध हो सकती है। आपकी वाणी पूर्वोक्त सभी गुणों से परिपूर्ण है।

इन दोनों पद्यों में जो भीमसेन और किरात-वेषी श्रीशकर की वाणी में गुण कहे गये हैं, वे सभी भारवि के काव्य में दृष्टिगत होते हैं। और ऐसा होना अनिवार्य भी है। क्योंकि कवि अपने काव्य के किसी पात्र की वाक्य रचना के गुणों का होना दिखलाता है उसके द्वारा अपनी कृति में उन गुणों का समावेश किया जाना अवश्य भावी है। अतएव यह निस्सदेह कहा जा सकता है भारवि ने अपनी काव्य-रचना में इन गुणों के होने का इन पद्यों में सकेत किया है।

इनके उदाहरण रूप में लेख विस्तार भय से केवल भारवि के कुछ नीति-गर्भ वाक्य खंडों का दिक्दर्शन कराया जाता है—

नहि: प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः[1]-१।२

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः[2] १।४

सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः[3]-१।५

समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः[4]-१।८

अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता[5]-१।२३

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः[6] १।३३

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा
गुणगृह्या वचने विपश्चितः[7] २।५

सहसा विदधीत न क्रिया
मविवेकः परमापदां पदम्[8] २।३०

---

१. हितैषीजन किसी को प्रसन्न करने के लिये मिठी मिठी झूठी बाते नहीं करते।

२. हितकारक और साथ ही साथ मनोहर भी हो ऐसे वचन दुर्लभ है।

३. राजा और राजमंत्री दोनों ही परस्पर अनुकूल होते हैं, वहीं सारी सम्पदा रहती है।

४. दुर्जनो से मित्रता करने की अपेक्षा सजनो के साथ विरोध भी अच्छा है।

५. बलवान व्यक्ति के साथ शत्रुता करना बड़ा भयंकर है।

६. क्रोध-विहीन व्यक्ति का शत्रुजन आदर नहीं करते।

७. विद्वद्जन वचन कहने वाले व्यक्ति का विचार न कर उसकी वाणी का गुण ग्रहण करते हैं।

८. बिना विचारे सहसा कार्य करना विपदा का घर है।

किरातार्जुनीय पर अनेक टिकाएं हैं उनमें ३२ का उल्लेख साहित्याचार्य जयपुर के राज्य गुरु श्री पं० नन्दकिशोरजी कथाभट्ट प्रणीत 'सारस्वतालोक' पुस्तक में किया गया है।

तुलसीकृत रामायण और
पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

आगम-निगम-पुराण आदि का रामचरितमानस है सार,
उसमें दोष कल्पना की वह अनाधार है अत्याचार।
सुरसरिता के विमल नीर में पङ्क कल्पना के अनुसार,
समालोचना नहीं वस्तुतः द्वेषपूर्ण यह घोर प्रहार।
किन्तु धूलि-प्रक्षेपण से क्या रवि का होता है अपकार,
प्रक्षेपक पर ही गिरती वह देने को मानो धिक्कार।
दिया अहो! यह आलोचक ने हिन्दी को कैसा उपहार,
यह प्रत्यक्ष दिखाने को है उस प्रहार का यह प्रतिकार।

(१)

श्रद्धेय पंडित अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी के "तुलसीकृत रामायण की आलोचना[१]" आदि शीर्षकों में अनेक लेख निकल चुके हैं। आप हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आप के द्वारा की गई इस आलोचना से जनता में पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी की रामायण में कपोल कल्पना के बाहुल्य का भ्रम उत्पन्न होना संभव है, अत इस विषय में कुछ पंक्तियाँ लिखना आवश्यक है।

क्या ही अच्छा होता यदि श्रीवाजपेयीजी यह आलोचना लिखने के प्रथम रामचरितमानस के आधारभूत वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण पर एक दृष्टि डाल लेते। यदि आपने ऐसा किया होता तो आपको रामचरित मानस पर आक्षेप करने की आवश्यकता ही प्रतीत न होती। श्रीगोस्वामीजी ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है–
"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।"

---

१ देखो–सरस्वती पत्रिका सन् १९४३ फरवरी और मार्च के अङ्क।

यद्यपि इस पद्यार्द्ध को वाजपेयीजी ने उद्धृत किया है, तथापि आपने रामचरितमानस के अनेक प्रसङ्ग उद्धृत कर यह सिद्ध करने की पर्याप्त चेष्टा की है कि रामचरितमानस में कपोल-कल्पित वर्णनों का ही आधिक्य है। वाजपेयीजी ने जिन वर्णनों को गोस्वामीजी की कपोल-कल्पना बताया है, वे वर्णन वास्तव में अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायण आदि के आधार पर हैं।

वाजपेयीजी लिखते हैं—

(१) "रामचरितमानस में रामावतार के कई कारण बताये गये हैं, उनमें—"विश्व विदित एक कैकय देसू" से जो प्रसङ्ग आरम्भ होता है उसमें एक धार्मिक और निष्कामकर्मी प्रतापभानु राजा की दुर्दशा दिखाई गई है। इससे जप, यज्ञ, पूजा, पाठ का व्यर्थ होना सिद्ध होता है। क्योंकि जो भावी हो वह हो कर ही रहेगी। इससे वेद मार्ग पर कम ठेस नहीं लगेगी।"

इसका उत्तर है कि जप, तप, पूजा, पाठ आदि द्वारा अनारब्ध संचित कर्म और वर्तमान जन्म में किये हुये कर्म फलों का ही विनाश हो सकता है, प्रारब्ध कर्म का विनाश नहीं हो सकता, वह तो अवश्यमेव भोगना ही पड़ता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास सभी एक मत हैं। महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों में इस सिद्धान्त की पुष्टि में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे नृग, नहुष हरिश्चन्द्र और त्रिशंकु आदि परम धार्मिक राजाओं को प्रारब्ध कर्मानुसार महान् कष्ट भोगना पड़ा था। श्रीमद्भागवत में वर्णित सौदास राजा का प्रसंग तो ठीक रामचरितमानस में वर्णित राजा प्रतापभानु के समान ही है। वाजपेयीजी कहते हैं—

(२) "पुष्पवाटिका में रामचन्द्र और जनकनन्दिनी के परस्पर अनुराग का जो वर्णन है, वह उचित नहीं है। क्योंकि रामचन्द्र-किशोर वय थे और सीताजी छोटी थीं, यहाँ तो बिहारी का "अली कली ही सों रम्यो" वाला मजमून भी न था।"

उत्तर—जनकपुर जाने के पहिले ही जिन श्रीरामचन्द्र ने ताड़का और सुबाहु जैसे महा भयंकर राक्षसी और राक्षस का एक

एक बाण से ही वध कर दिया था और मारीच जैसे महाबलशाली राक्षस को बिना फर के बाण-प्रहार से एक सौ योजन दूर फेंक दिया था और जिस शिव धनुष को रावण और बाण जैसे महापराक्रमी उठा ही नहीं सके थे उसको जिन्होंने भंग कर दिया था, उन श्रीरामचन्द्रजी के विषय में अवस्था विषयक आपत्ति करना युक्तिसंगत नहीं है। अवस्था के विषय में भी वाल्मीकीय रामायण में—

"ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचन"

बालकाण्ड सर्ग २०–२

यह वाक्य राजा दशरथ ने महर्षि विश्वामित्र को उस समय कहे हैं, जब वे यज्ञ रक्षा के लिये श्रीरामलक्ष्मण को मांगने आये थे। विवाह के पश्चात् जब रामचन्द्र अयोध्या पहुँचते हैं, उस समय का वर्णन करते हुए अध्यात्म रामायण में लिखा है—

"रामलक्ष्मणशत्रुघ्नभरता देवसम्मिता',
स्वा स्वा भार्यामुपादाय रेमिरे स्वस्वमंदिरे।"

—बालकाण्ड ७–५२

स्वयंवर के समय का सीताजी के संबन्ध में अध्यात्म रामायण में वर्णन है—

"सीता स्वर्णमयीं माला गृहीत्वा दक्षिणे करे,
स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता।
मुक्ताहारैः कर्णपत्रै' क्वणच्चरणनूपुरा।
दुकूलपरिसंवीता वस्त्रान्तर्व्यंजितस्तनी।"

६–२६–३०

फिर मानस रामायण के उक्त वर्णन पर आक्षेप क्यों?

परशुराम संवाद के विषय में वाजपेयीजी लिखते हैं—

(३) "लक्ष्मणजी को कटु वाक्य कहने के लिये विश्वामित्र और श्रीराम द्वारा उत्साहित किया जाना यह वकालत कितनी भद्दी और द्वेषपूर्ण है। यह प्रसंग कला की दृष्टि से क्या प्रशंसनीय कहा जा सकता है?"

उत्तर—गोस्वामीजी का मुख्य ध्येय आर्ष ग्रन्थों में वर्णित

इतिहास प्रसिद्ध रामचरित्र का भाषा में वर्णन करना था, केवल कला प्रदर्शन करने के लिये नहीं। इस प्रसंग में अध्यात्म रामायण में लिखा है।

"उवाच निष्ठुरं वाक्यं क्रोधात्प्रचलितेन्द्रियः,
त्वं राम इति नाम्ना मे चरसि क्षत्रियाधमः"

--बाल काण्ड ७-११

इत्यादि परसुरामजी के वाक्यों को सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्र कहते हैं—

उवाच भार्गवं रामः शृणु ब्रह्मन्वचो मम,
लक्ष्य दर्शय बाणस्य ह्यमोघो मम सायकः,
लोकान् पादयुगं वापि वद शीघ्रं ममाज्ञया,
अयं लोकः परोवाथ त्वया गन्तुं न शक्यसे।"

—बाल० ७। १७-१८

वाल्मीकीय रामायण में भगवान् रामचन्द्र परशुराम के प्रति कहते हैं—

कृतवानसि यत्कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव,
अनुरुंध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः।
वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव,
अवजानासि मे तेजः पश्यमेद्य पराक्रमम्।
ब्राह्मणोसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च,
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्।
इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्,
लोकानप्रतिमान्वापि हनिष्यामीति मे मतिः।"

—बालकाण्ड, ७६. २, ३, ६, ७,

इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय आदि में परशुरामजी के प्रति अत्यंत कटु वचनों का प्रयोग किया गया है। किन्तु रामचरितमानस में उनके प्रति केवल स्वाभाविक उपहासात्मक व्यंग्योक्ति मात्र है। वाजपेयीजी कहते हैं—

(४) "राम लक्ष्मण सीता को बन में पहुँचा कर अयोध्या लौटते समय सुमंत्र को लक्ष्मणजी ने जो वाक्य कहे और जिनको न

कहने के लिये रामचन्द्र ने सुमन्त्र को शपथ दिलाई, वे क्या वाक्य थे, स्पष्ट नहीं किया, केवल कटु वाक्य ही लिखा है।"

उत्तर—यह कोई आक्षेप का विषय नहीं हो सकता है। तथापि इस विषय का वर्णन वाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार है—

"लक्ष्मणस्तु सुसक्रुद्धो निश्वसन् वाक्यमब्रवीत्,
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः।
राजा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम्,
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः।"

—अयोध्याकाण्ड, ५८। २६-२७

इन वाक्यों में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वही भाव गोस्वामीजी के इस वर्णन में व्यजित होता है। वाजपेयीजी ने लिखा है—

(५) "तुलसीदासजी ने लक्ष्मणजी को उग्र स्वभाव वाले और वाचाल चित्रित किया है। उन्हीं लक्ष्मणजी को शृंगबेरपुर में विरक्त और निषाद के सम्मुख धर्मोपदेशक दिखाया गया है अतः तुलसीदास ने अपने श्रोताओं को उपदेश देने के लिये शृंगबेरपुर वाला व्याख्यान लक्ष्मण के मुख में रख दिया, किन्तु इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं कि उन्होंने इस काम के लिये उपयुक्त पात्र नहीं चुना।"

उत्तर—वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण में लक्ष्मणजी की उग्रता और वाचालता का जो वर्णन है उस को देखते हुये रामचरितमानस में जो वर्णन है वह कुछ भी नहीं है। और न उपदेशात्मक वाक्य गोस्वामीजी ने अपनी कपोल कल्पना से लक्ष्मणजी के मुख में रक्खे हैं यह तो पहिले ही अध्यात्म रामायण में है —

सुप्तं रामं समालोक्य गुहः सोश्रुपरिप्लुतः,
लक्ष्मण प्राह विनयाद् भ्रातः पश्यसि राघवम्।
तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणः प्राह सखे शृणु वचो मम,
कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा।

अयोध्याय ६, १, ४

इस ऐतिहासिक घटना के कारण गोस्वामीजी को इसका उल्लेख करना अनिवार्य था। वाजपेयीजी कहते हैं—

(६) "रामचरितमानस में यात्रा का सजीव क्या, निर्जीव भी वर्णन नहीं किया, जब कभी विश्वामित्र, राम, भरत या कोई जाने लगा तो एक चौपाई में विचार हुआ और दूसरी में गन्तव्य स्थान में पहुँच गये।

उत्तर—यह आक्षेप बड़ा विचित्र है। वाजपेयीजीने यात्रा के प्रसंगों के जो उद्धरण दिये हैं, वे अध्यात्म रामायण के अनुसार ही मानस रामायण में हैं। अध्यात्म रामायण में भी गंगा के पार केवट द्वारा पाद-प्रक्षालन करने के बाद दूसरे श्लोक में ही जनकपुर पहुँचने का उल्लेख है—

"इत्युक्त्वा क्षालितौ पादौ परं तीरं ततो गताः,
कौशिको रघुनाथेन सहितो मिथिलां ययौ,
विदेहस्य पुरं प्रातऋ्षिवाटं समाविशत्,
—बालकाण्ड, ६। ५-६

इसी प्रकार जनक द्वारा अयोध्या को भेजे गये दूतों के विषय में उल्लेख है—

तथेति प्रेषयामास दूतांस्त्वरितविक्रमान् ,
ते गत्वा राजशार्दुलं रामश्रेयो न्यवेदयन्।
६। ३४-३५

इसी प्रकार विवाहोत्तर अयोध्या को लौटते समय इत्यादि प्रसंगों में मार्ग का कुछ भी वर्णन न करके गन्तव्य स्थान को पहुँच जाने मात्र का अध्यात्म रामायण में उल्लेख है। रामचरित मानस के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गोस्वामीजी का प्रधान उद्देश्य संक्षेप में श्रीरामचरित का वर्णन और साथ ही साथ उनके आदर्श पर लोक शिक्षात्मक वर्णन करना था, न कि मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन द्वारा लोक-रंजन का। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि गोस्वामीजी ने प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन कहीं किया ही नहीं है। प्राकृतिक दृश्यों का गोस्वामीजी ने अनेक स्थलों पर वर्णन किया है और वह बहुत ही चित्ताकर्षक है। देखिये पंपा सरोवर के दृश्य का वर्णन कैसा हृदयहारी है—

पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा, पपानाम सुभग गंभीरा।
संत हृदय जस निर्मल बारी, बाँधे घाट मनोहर चारी।
जहँ तहँ पियहिं विविध मृग नीरा, जनु उदार गृह जाचक भीरा।
पुरइनि सघन ओट जल बेगिन पाइय मर्म,
मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म।
सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माँहि,
जथा धर्म सीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं।

× × × ×

बिकसे सरसिज नाना रंगा, मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।
बोलत जल कुक्कुट कल हंसा, प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।
चक्रवाक-बक खग समुदाई, जात पथिक जनु लेत बुलाई।

इसी प्रकार इसके आगे—

सुंदर बन कुसुमित अतिसोभा, गुंजत मधुपनिकर मधुलोभा,
कंद मूल फल पत्र सुहाये, भये बहुत जबतें प्रभु आये।

× × × ×

मधुकर खगमृग तनु धरि देवा, करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा।
बरखा काल मेघ नभ छाये, गर्जत लागत परम सुहाये।

× × × ×

लछमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि,
गृही बिरति रत हरष जस विष्णु भगत कहुँ देखि।
घन घमंड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा,
दामिनि दमक रह न घन माहीं, खलकै प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि नियराये, जथा नवहिं बुध बिद्या पाये।

× × × ×

इत्यादि ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं के वर्णन बहुत ही सुन्दर किये गये हैं। गोस्वामीजी ने इन प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में भी गभीर उपदेश गर्भित कर दिया है, प्राचीनाचार्यों द्वारा काव्यों को जो—"कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे"—सम्मान प्राप्त है—उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(७) श्रीरघुनाथजी की बाललीला के प्रसंग में—

"ठुमकिठुमकि प्रभु चलहिं पराई" और—"धूसर धूरिभरे तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये"

इन चौपाइयों पर वाजपेयीजी आलोचना करते हैं:—

"जहां नौकरों की पलटन रहती हो वहाँ धूल लगे लड़के न तो मालिक के पास जाने पाते हैं और न ऐसे बैठा ही लिये जाते हैं"।

ऐसे चित्ताकर्षक वात्सल्य भाव के वर्णन पर यह आक्षेप क्यों? यह वर्णन भी गोस्वामीजी का कपोल कल्पित नहीं, अध्यात्म रामायण के—

"अंगणे रिंगमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः,
दृष्ट्वा दशरथो राजा कौशल्या मुमुदे तदा।
भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत्,
धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम्।
प्रहसन्स्वयमायाति कर्दमांकितपाणिना।

—बालकाण्ड ३।४६-,४७,४८.

इस वर्णन के आधार पर है।

वाजपेयीजी लिखते हैं—

(८) "रामराज्याभिषेक के प्रसंग में प्रथम तो दशरथजी से वशिष्ठजी ने यह कहा है कि—

जो पंचहि मत लागहि नीका, करहु हरषि हिय रामहि टीका।

फिर दशरथजी की मृत्यु के पश्चात् वही वशिष्ठजी यह कहने लगे कि—

"वेद विहित संमत सबही का, जेहि पितु देय सो पावहि टीका।"

यह वशिष्ठजी ने बड़े भयंकर सिद्धान्त की उद्भावना की है। यह सिद्धान्त वेद का तो नहीं, लवेद का भले ही हो सकता है। भरत ने इस सिद्धान्त को अमान्य कर दिया इससे बढ़ कर इसकी असारता का और क्या प्रमाण हो सकता है?"

उत्तर—विद्वान् आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह आलोच्य विषय को भली प्रकार अध्ययन करने के पश्चात् उसकी आलोचना करे। यह जानते हुए भी वाजपेयीजी ने इस प्रकार अनर्गल आक्षेपों

के लिये अपनी लेखनी को कलंकित करने का साहस किया है, यह बड़े आश्चर्य का विषय है।

श्री वाजपेयीजी उक्त दोनों वाक्य वशिष्ठजी द्वारा कहे गये बता रहे हैं। किन्तु वास्तव में "जो पचहि मत लागहि नीका, करहु हरषि हिय रामहिं टीका" यह वाक्य तो सुमंत्र आदि राजमंत्रियों को दशरथजी ने कहा है, और यह वाल्मीकीय के इस श्लोक के—

यदिदं मेनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्,
भवन्तो मेनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्।

—अयो०, २।१५

इस आधार पर है। हां, दूसरा वाक्य—

"वेद विहित सम्मत सब ही का, जेहिं पितु देय सो पावइ टीका।"

भरतजी के प्रति दशरथजी के स्वर्गवास हो जाने के बाद वशिष्ठजी का है, और यह वाल्मीकीय रामायण के—

कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ,
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते।
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्,
राज्येवापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः"

—अयो०, १०१।१८, २०

इन वाक्यों के आधार पर है। भगवान् रामचन्द्र भरतजी से कहते हैं—स्त्री एवं पुत्रादि पर पिता आदि गुरुजनों का अधिकार शास्त्र विहित है। अतः मुझे वनवास देना अथवा मेरा राज्याभिषेक करना महाराज दशरथ की इच्छा पर ही निर्भर है। यह वाक्य वेद-मूलक स्मृतियों के सम्मत भी है—

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्।

—याज्ञवल्क्य स्मृति व्यवहाराध्याय, ११०

पित्रैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः,
तेषां स एव धर्मस्यात् सर्वस्य हि पिता प्रभुः।

—नारद स्मृति

समन्यूनाधिका भागा पित्रा यो यो प्रकल्पिता:
तथैव ते पालनीया विनयास्तेस्युरन्यथा ।

—बृहस्पति स्मृति

ऐसी परिस्थिति में रामचरित मानस के उक्त वाक्यों को लवेद सम्मत कहना, वह भी एक प्रतिष्ठित विद्वान् आलोचक द्वारा, कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। भरतजी द्वारा राज्य-शासन का अस्वीकार करना धर्मशील महापुरुषों का एक स्तुत्य एवं प्रसंशनीय कार्य है, एक उच्च आदर्श का द्योतक है, नकि आक्षेप का विषय। जिस परिस्थिति में उन्होंने राज्य के प्रलोभन का त्याग किया वह अनैतिक अथवा धर्म-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

वाजपेयीजी कहते हैं—

(९) "राम-रावण के युद्ध के समय इन्द्रादि देवताओं ने भगवान् के लिये रथ भेजा, सो क्या देवताओं को आत्म-बल पर विश्वास न था?"

उत्तर—विश्वास था या नहीं यह तो सर्वान्तरयामी भगवान् ही जान सकते हैं, सर्व शक्तिमान् भगवान् रामचन्द्र की माया का कौतुक है, पर यह प्रसंग गोस्वामीजी का कपोल कल्पित नहीं—

"भूमौ स्थितस्य रामस्य रथस्थस्य च राक्षसः,
न समं युद्धमित्याहुर्देवगधर्वकिन्नराः।
ततो देववरश्रीमान् श्रुत्वा तेषां वचोऽमृतम्,
आहूय मातुलीं शक्रो वचनं चेदमब्रवीत्।"

—वाल्मीकीय० युद्ध० १०२।५–६

इत्यादि वर्णनों के आधार पर लिखा गया है।

वाजपेयीजी लिखते हैं—

(१०) "तुलसीदासजी ने अपने को छन्द, अलंकार, रस, गुण और दोष आदि काव्य-विषयों से अनभिज्ञ बताते हुए—"कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे"—कहकर एक प्रकार की शपथ खाई है, पर जिन्होंने इतने ग्रन्थ लिखे, उनको काव्य का ज्ञान न होना विचित्र बात है।"

उत्तर—काव्य रचना केवल साहित्य विषयिक ज्ञान पर ही निर्भर नहीं है। साहित्याचार्यो का मत है कि काव्य रचना के लिये नैसर्गिक प्रतिभा, लोक और शास्त्रादि के अवलोकन के अनुभव जन्य निपुणता एव काव्यज्ञ शिक्षक द्वारा शिक्षा होनी चाहिये। इनमें प्रतिभा का स्थान सर्वोपरि है। यह पूर्वजन्म के संस्कार जन्य स्वाभाविक होती है। काव्यालकार सूत्र के प्रणेता आचार्य वामन ने एव कविराज राजशेखर ने तो केवल प्रतिभा मात्र को ही काव्य-रचना का कारण माना है;—

"सा (प्रतिभा) केवल काव्यहेतुइति यायावरियाः"।

गोस्वामीजी में तो न केवल प्रतिभा ही थी, लोक और शास्त्र जन्य निपुणता भी यथेष्ठ थी। उन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा एव सस्कृत के रामायण आदि अनेक ग्रन्थों के अनुशीलन के आधार पर ही अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनकी रचनाओं में इने गिने कुछ ही छन्दों का प्रयोग है और उपमा, रूपक और अनुप्रास आदि ही कुछ प्रसिद्ध अलकारों का बाहुल्य है। रसों की स्थिति तो साधारण रचनाओं म भी रहती है। मीराबाई, कबीर एव अन्य महात्माओं द्वारा जो पद-साहित्य की रचना हुई है, उसमें भी काव्यत्व विद्यमान है। यही क्यों, मारवाड के "ढोलामारू" और 'निहालदे' (जिनको जोगी लोग गाते हैं) आदि में भी यत्र तत्र अलकार एव रस की स्थिति पाई जाती है। उनके रचयिताओं ने क्या काव्य शिक्षा प्राप्त की थी, कदापि नहीं ऐसी स्थिति में गोस्वामीजी जैसे बहु श्रुत एव लोक-वृत्त जानने वाले विद्वान् ने यदि काव्य-शिक्षा प्राप्त न करके ऐसी सुन्दर काव्य रचना की, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। काव्य के रीतिग्रन्थों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करना एक बात है और काव्यरचना का चित्ताकर्षक होना दूसरी बात है। महाकवि केशवदास काव्य विषय के सुप्रसिद्ध आचार्य होते हुये भी उनका काव्य लोक-प्रिय न हो सका। अतएव गोस्वामीजी ने—

"कवित विवेक एक नहि मोरे सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'

कहा है, वह काव्यशिक्षा-जन्य काव्य-विवेक को लक्ष्य में रख कर विनीत भाव से सत्य ही कहा है।

वाजपेयीजी ने—

(११) "तुलसीदासजी ने शूर्पणखा, मंदोदरी और कुंभकर्ण द्वारा रावण को उपदेश दिलाया है, यह कितना भारी अनौचित्य है, क्या वह मुसलमान को वेद का और हिंदू को कुरान का उपदेश नहीं है ?"

इत्यादि वाक्यों द्वारा इस प्रसंग की बड़ी तीव्र आलोचना की है। किन्तु, शूर्पणखा आदि द्वारा कहे गये वाक्य गोस्वामीजी की कपोल कल्पना नहीं है। वे अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायण के आधार पर हैं। देखिये, जिस शूर्पणखा के विषय में वाजपेयीजी यह कहते हैं कि "वह पंडिता कब की हुई कि रावण को उपदेश देने लगी" रावण के प्रति उसके वाक्य वाल्मीकीय में इस प्रकार है—

ततः शूर्पणखा दीप्ता रावणं लोकरावणं,
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा परुषं वाक्यमब्रवीत् ।
प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो निरंकुशः,
समुत्पन्नं भैयं घोरं बोधव्यं नावबुध्यसे ।
सक्तंग्राम्येषु भोगेषु कामवृत्तं महीपतिं,
लुब्धं न बहु मन्यंते श्मशानाग्निमिवाप्रजाः ।
स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः,
स तु वै सहराज्येन तैश्च कार्यैर्विनिश्यति ।

—अरण्य काण्ड ३३।१–४

यही नहीं, वाल्मीकीय रामायण के अरण्य कांड के सारे ३३ वें सर्ग में शूर्पणखा द्वारा रावण को उपदेश किया गया है। इसी प्रकार अध्यात्म रामायण में मंदोदरी द्वारा रावण को उपदेश दिया गया है-

"एवं श्रुत्वा वचस्तस्य रावणास्यातिदुःखिता,
उवाच नाथ मे वाक्यं शृणु सत्यं तथा कुरु ।
शक्य न राघवो जेतुं त्वया चान्यैः कदाचन,
रामो देववरः साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ।
मत्स्यो भूत्वा पुराकल्पे मनुं वैवस्वतं प्रभुः
ररक्ष सकलापद्भ्यो राघवो भक्तवत्सलः ।

× × ×

स एव साम्प्रत जातो रघुवंशे परात्परः,
भवदर्थे रघुश्रेष्ठो मानुषत्वमुपागत ।
—युद्धकाण्ड, १०१४४-५२

वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड के १११ वें सर्ग में रावण की मृत्यु के सम्बन्ध में मन्दोदरी द्वारा किये गये विलाप में भी रावण के विषय में इसी प्रकार के वाक्य हैं।

कुम्भकरण द्वारा रावण को उपदेश दिये जाने का भी वाल्मीकीय में इस प्रकार उल्लेख है—

तस्य राक्षसराजस्य निशम्य परिदेवितम्,
कुम्भकर्णो बभाषेद वचन प्रजहास च।
दृष्टो दोषो हि योऽस्माभि पुरा मन्त्रविनिर्णये,
हितेष्वनभियुक्तेन सोयमासादितस्त्वया।
शीघ्र खल्वभ्युपेत त्वा फल पापस्य कर्मणः,
निरयेष्वेव पतन यथा दुष्कृतकर्मण।
प्रथम वै महाराज कृत्यमेतद्विचिन्तितम्,
केवल वीर्यदर्पेण नानुबन्धो विचारितः।
य. पश्चात्पूर्वकर्माणि कुर्यादैश्वर्यमास्थित',
पूर्वं चोत्तरकार्याणि न स वेद नयानयौ।
× × ×
यदुक्तमिह ते पूर्व प्रियया मेनुजेन च,
तदेव नो हित वाक्य यथेच्छसि तथा कुरु।
—युद्धकाण्ड, ६३

युद्धकाण्ड के १२ वें सर्ग के २८-३४ श्लोकों में भी कुम्भकर्ण का उपदेश है।

ऐसी परिस्थिति में गोस्वामीजी के वर्णन में अनौचित्य बताना कहाँ तक उचित है इसका निर्णय हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

वाजपेयीजी कहते हैं—

(१२) "तुलसीदासजी ने वानरों को बन्दर ही बना डाला, जिन हनुमानजी को 'बुद्धिमतां वरिष्ठम्' और "ज्ञानिनामग्रगण्यम्" कहा गया है और जिनमें स्थूल, सूक्ष्म रूप परिवर्तन करने की शक्ति एवं

जो मनुष्य की भाषा बोल सकते थे वे वानर कदापि नहीं हो सकते !"

उत्तर—गोस्वामीजी ने अपनी कपोल-कल्पना से वानरों को बन्दर नहीं बनाया है। गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, और पन्नगों की कन्याओं एवं अप्सराओं के गर्भों में इन्द्रादि देवताओं के वीर्य से उत्पन्न कामरूप (यथेच्छ रूप धारण करने वाली) सृष्टि को वंदर योनि ब्रह्माजी द्वारा दी गई है। देखिये, महर्षि वाल्मीकिजी क्या कहते हैं—

"पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः,
उवाच देवताः सर्वाः स्वयंभूर्भगवानिदम्।
सत्यसन्धस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः,
विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः।
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमां जवे,
नयज्ञान्बुद्धिसम्पन्नान्विष्णुतुल्यपराक्रमान्।
असंहार्यानुपायज्ञान्दिव्यसंहननान्वितान्,
सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव।
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च,
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्।
पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः,
जृम्भमाणस्य सहसा ममवक्त्रादजायत।
ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्यशासनम्,
जनयामासुरेवं ते पुत्रांवानररूपिणः।"

—बालकाण्ड, १७। १-८

अशोकवाटिका में भगवती जनकनन्दिनी कहती हैं—

दृष्ट्वा तं जानकी भीता रावणोयमुपागतः,
मां मोहयितुमायातो मायया वानराकृतिः।
× × ×
तच्छ्रुत्वा जानकी प्राह हनूमन्तं कृतांजलिम्,
वानराणां मनुष्याणां संगतिर्घटते कथम्।

—अध्यात्म सुन्दर ३-२१

वाजपेयी जी लिखते हैं—

(१३) "राक्षसों को मनुजाद (नर-भक्षक) कहे गये हैं, इस

तरह के अलानिया इलजाम लगाने के सिवा उन्होंने (गोस्वामीजी ने) एक भी उदाहरण नहीं दिया, जिससे इस अभियोग की किसी अंश में भी पुष्टि होती।"

उत्तर—इस अभियोग की सर्वांश में पुष्टि करने वाला उदाहरण विद्यमान है। भगवान् रामचन्द्र ने मुनिजनों की प्रार्थना पर जब राक्षसों को वध करने की प्रतिज्ञा की, तब भगवती सीता को यह कार्य अनुचित प्रतीत हुआ। उन्होंने इस हिंसात्मक कार्य को न करने के लिये भगवान् से विनय की। इसपर भगवान् रामचन्द्र ने—

"भक्षन्ते राक्षसैभीमैर्नरमांसोपजीविभि,
ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः।
—वाल्मीकीय रामा० ३। ६, १०

इत्यादि वाक्य कहे हैं। और भी अनेक प्रमाण हैं। वाजपेयीजी कहते हैं—

(१४) "रावण को दशानन कहा है"' रावण को दश शिर का जन्तु समझना भूल है।"

उत्तर—इसके अनेक प्रमाण हे। रावण की तपस्या के प्रसंग में कहा है—

दिव्यवर्षसहस्रं तु निराहारो दशाननः,
पूर्णे वर्षसहस्रे तु शीर्षमग्नौ जुहाव स ।
एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमु.,
अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः।
—अध्यात्मरा० उ० २, ६-११

स्वामिकार्तिकेय के छः मुखों के वर्णन का महाभारत वन पर्व (अ० २२८ श्लोक १२-१४) में उल्लेख है।

वानरों द्वारा रावण के यज्ञ विध्वंस के समय मंदोदरी की दुर्दशा के—

(१५) "धरि केस नारि निकारि बाहेर तेति दीन पुकारहीं"

इत्यादि वर्णन पर आप लिखते हैं- "इस प्रकार के व्यवहार का प्रमाण आर्यों की संस्कृति में कहीं नहीं मिलता।"

उत्तर—प्रमाण खोजने पर ही मिल सकता है, अथवा ऐतिहासिक घटनाओं की स्मरण-शक्ति से अनुभव हो सकता है। अस्तु यह वर्णन गोस्वामीजी की कल्पना नहीं है। अध्यात्म रामायण के—

प्रवेश्यान्तः पुरेवेशमन्यंगदो वेगवत्तरः।
समानयत्केशबन्धे धृत्वा मन्दोदरीं शुभाम्
× × × ×
क्रोशन्तीकरुणं दीना जगाद दशकंधरम्
निर्लज्जोसि परैरेवं केशपाशे विकृष्यते।

—युद्ध काण्ड १०,२४—

इस वर्णन के आधार पर है। आर्ष ग्रन्थों में इस विषय के अनेक प्रमाण हैं। यहाँ एक द्रौपदी का उदाहरण ही पर्याप्त है। मंदोदरी राक्षसी थी और उसकी दुर्दशा वानरों द्वारा की गई थी। और वह भी उस समय, जब भयंकर युद्ध हो रहा था। द्रौपदी, दुर्योधन और दुःशासन की जेष्ठ-भ्रातृ-पत्नी थीं, माता के समान पूज्या थी। दुर्योधन भरतवंशीय सर्वगुणसम्पन्न नीति-निपुण राजा था। उस समय पारस्परिक युद्ध भी नहीं हो रहा था। प्रत्युत धृतराष्ट्र की आज्ञा को शिरोधार्य करके धर्मराज युधिष्ठिर द्यूत क्रीड़ा के लिये आये थे। तथापि कौरवों की उस राज-सभा में द्रौपदी की महान् दुर्दशा की गई, जिसमें पितामह भीष्म, आचार्य द्रौण, परमनीतिज्ञ महात्मा विदुर जैसे महानुभाव उपस्थित थे, उनके सम्मुख द्रौपदी को (जो रजस्वला अवस्था में रजोप्लुत एक वस्त्रा थी) दुःशासन द्वारा केश आकर्षण करते हुए लाया गया और राज-सभा में दुर्योधन ने उसे अपनी जंघा पर बैठने को भी कहा। यही नहीं, दुःशासन उसे नग्न भी करने लगा। ऐसे आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध इतिहास से अभिज्ञ होते हुए भी वानरों द्वारा मंदोदरी के साथ किये गये दुर्व्यवहार का उदाहरण वाजपेयीजी आर्य-संस्कृति में नहीं बतलाते हैं—'किमाश्चर्यमतःपरम्'

उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि तुलसीकृत रामायण के जिन प्रसंगों की आलोचना वाजपेयीजी ने की है, वे सभी प्रसंग वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण के आधार पर हैं—गोस्वामीजी के कपोल-कल्पित नहीं हैं। यद्यपि वाजपेयीजी ने तुलसीकृत रामायण

की आलोचना साहित्यक दृष्टि से की है, किन्तु साहित्यक आलोचना की भी मर्यादा सीमित है। साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवति।" —ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत।

अर्थात्, ख्यातिलब्ध महात्माओं की कृति में यदि कोई दोष वस्तुतः दृष्टिगत होता हो, तब भी उसको उद्घोषण करने वाला आलोचक ही दूषणार्ह है। अतएव हिन्दी साहित्य को अपनी अद्भुत एवं हृदयहारी कृतियों द्वारा जीवन प्रदान करने वाले और श्री रामचरित्र वर्णन द्वारा भारतीय आबालवृद्ध जनता को कृतार्थ करने वाले महानुभाव पूज्यपाद गोस्वामीजी की निर्दोष कृति की एवंभूत कटु आलोचना करना भगवान् भास्कर पर धूलि प्रक्षेपण के समान उपहासपद ही है। श्रीवाजपेयीजी जैसे विचारशील विद्वान् द्वारा इस प्रकार की आलोचना की आशा हिंदी संसार को न थी।

रामायण और वाजपेयीजी

(२)

पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी का अगस्त की 'सरस्वती' में 'पोद्दारजी के अनुशीलन पर एक दृष्टि' शीर्षक लेख निकला है। वाजपेयीजी का कहना है—

"वे वाल्मीकीय आदि रामायणों का भाषान्तर कर देना मात्र तुलसीदासजी का काम समझते हैं। हमारी समझ में उन्हें कुछ अपनी बुद्धि से भी काम लेना चाहिये था। पोद्दारजी हनुमान जी को वानर, रावण को दश शिर का जन्तु, राक्षसों को नर-मांस-भक्षक और रामायण को इतिहास समझते हैं और हम काव्य।"

हमने यह कभी नहीं कहा है, कि तुलसीदास जी का काम वाल्मीकीय आदि रामायणों का भाषान्तर कर देना मात्र था। हमारा तो केवल यही कहना था कि तुलसीकृत रामायण के जिन अंशों पर वाजपेयीजी ने आक्षेप किया है, उनमें जो कुछ वर्णन है वह अध्यात्म और वाल्मीकीय रामयण के आधार पर है, न कि उनकी अपनी कपोल कल्पना। यह तो श्रीतुलसीदासजी की ही अप्रतिम बुद्धि का

काम था कि उन्होंने ऐसे लोकोपकारक चित्ताकर्षक उत्कृष्ट ग्रन्थ का निर्माण किया था। उनकी मानस रामायण की एतद्देशीय ही नहीं, विदेशीय अनेक विद्वानों ने भी भूरि भूरि प्रशंसा की है। हां, यह काम अवश्य ही उनकी सामर्थ्य से बाहिर था कि वे आर्ष रामायणों के ऐतिहासिक वर्णनों को महर्षियों की कपोल-कल्पना कहकर उनकी आलोचना करते। उनके सम्मुख वाल्मीकीय रामायण में महर्षि वाल्मीकिजी के प्रति कहे हुए स्वयं ब्रह्माजी के—

"न ते वागनृता काव्ये क्वचिदत्र भविष्यति।"

श्रीतुलसीदासजी ने रामायण की रचना काव्य दृष्टि से नहीं की थी। वे परम रामभक्त थे। उन्होंने भक्तिभाव से प्रेरित होकर अपने इष्टदेव की लीला का पद्यात्मक वर्णन किया है। अर्थात्, वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायणों में रामचरित्र का जो वर्णन है, उसको उस समय की बोलचाल की भाषा में पद्यात्मक लिखने का, उनका लक्ष्य था। प्रथम, आत्म-कल्याण और दूसरा जन साधारण में रामचरित्र का धार्मिक दृष्टि से प्रचार करना। श्रीगोस्वामीजी वाल्मीकीय आदि रामायणों को आर्ष ग्रन्थ मानते थे, नकि कपोल-कल्पित आख्याएें। अतएव हमको गोस्वामीजी की कृति को उन्ही की दृष्टि से देखना चाहिये, नकि और किसी दृष्टि से। जो ऐतिहासिक वर्णन वाल्मीकीय आदि रामायणों में विद्यमान हैं, उन वर्णनों को सत्य मान कर, यदि श्रीगोस्वामीजी ने उन वर्णनों को अपनी भाषा में व्यक्त किया है तो, यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होने उनको क्यों सत्य माना और उनका क्यों अनुकरण किया। गोस्वामी तुलसीदासजी की कृति पर वास्तिविक आक्षेप तो उसी अवस्था में हो सकता था जबकि उन्होंने कुछ ऐसा लिखा होता, जो वाल्मीकीय आदि रामायणों में न होता। यदि इस कसौटी पर तुलसीकृत रामायण की जांच की जायगी तो यह स्पष्ट है, कि वाजपेई जी के समस्त आक्षेप सर्वथा अनुचित, निरर्थक एव निराधार हैं। हमारे पहले लेख से यह भली भांति सिद्ध होता है।

---

१ इस श्लोकार्द्ध के पूर्व के वाक्य इसी निबन्ध में आगे "रामायण में इतिहास" शीर्षक में (पृ० १५६) लिखे गये हैं, वहाँ देखिए।

तुलसीकृत रामायण के कतिपय वर्णनों को अस्वाभाविक, असत्य आदि बताने के अतिरिक्त वाजपेईजी ने और कोई आक्षेप नहीं किया है। क्या ये भी कोई काव्य-दृष्टि से आक्षेप हो सकते हैं। तुलसीकृत रामायण को काव्य की कसौटी पर जाँचने के लिये उसमें उल्लिखित वर्णनों पर आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि श्री तुलसीदास जी का अनन्य विश्वास था—जैसा कि लखों अन्य पुरुषों का है—कि वाल्मीकीय आदि रामायणों में रामचरित्र का जो वर्णन है, वह ऐतिहासिक आख्यान है और वह सर्वथा सत्य है। आधुनिक वातावरण के कारण आजकल पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित कुछ लोग उन वर्णनों को ऐतिहासिक, स्वाभाविक, सम्भव और सत्य नही माने तो, उनके ऐसा मानने मे आर्ष ग्रन्थों के वाक्य अनैतिहासिक, अस्वाभाविक, असंभव और असत्य नहीं हो सकते।

यदि गोस्वामीजी यह मानते थे कि ऐतिहासिक दृष्टि से रावण के दस मस्तक थे, हनुमान जी वानर थे, इत्यादि इत्यादि, और वाजपेईजी आधुनिक परिस्थिति में इन बातों को असत्य समझते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीगोस्वामीजी प्रणीत काव्य दोष पूर्ण है।

वाल्मीकीय रामायण को प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुयायी सभी आबालवृद्ध, एक ऐतिहासिक आर्ष ग्रंथ मानते हैं। धर्मप्राण हिन्दु समाज तो इसको धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व देता है। यदि वाजपेयी जी इसको ऐतिहासिक महत्व न देकर केवल कपोल कल्पित आख्यान दूसरे शब्दों में उपन्यास मात्र मानते हैं तो वाजपेयीजी के कहने से वाल्मीकीय रामायण के महत्व में कुछ भी कमी नहीं हो सकती। अतएव इस विषय के वाद विवाद में पडना अनावश्यक है। किन्तु जब आप उसे काव्य की दृष्टि से भी आधुनिक काव्यो के समान एक साधारण काव्य मानते हैं, तब कहना पड़ता है कि आपके इस मत का कोई मूल्य नही है। क्योंकि विद्वद् समाज और सभी महापुरुष वाल्मीकीय रामायण को आर्ष ग्रंथ के सिवा आदि काव्य के रूपमें संस्कृत वाङ्मय में सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं।

अतएव श्री वाल्मीकीय रामायण की तुलना साधारण काव्यों से करना वैसा ही है, जैसा संकल्प मात्र से मनोवाञ्छित फल देने वाले कल्पवृक्ष की तुलना साधारण वृक्षों से करना—

संकल्पानुविधायि यस्य फलितंकस्तस्य धत्ते तुलाम्,
धिग्जातुद्रुमसंकथासु यदयं कपल्द्रुमोपि द्रुमः।

मानस रामायण की—

'वेद विहित सम्मत सबही का, जिहिं पितु देय सो पावे टीका'

इस चौपाई के विषय में वाजपेयीजी ने जो आक्षेप किया था उनके उत्तर में हमने हमारे पहले लेख में याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों के जो प्रमाण दिये थे, उसका उल्लेख करते हुए वाजपेयीजी कहते हैं कि ये प्रमाण तो साधारण गृहस्थों से सम्बन्ध रखते हैं, नकि राज परिवारों से। किन्तु राजाओं के उत्तराधिकार के विषय में धर्म-शास्त्रों में क्या विधान है, इसका आपने कोई उल्लेख नहीं किया। सम्भव है, वाजपेयीजी धर्म-शास्त्रों में श्रद्धा नहीं रखते या धर्म-शास्त्रों में उनको अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिला। हाँ, आपने पूर्व मीमांसा का "न भूमि स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" यह सूत्र अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। किन्तु यह सूत्र अप्रासंगिक है। इस सूत्र के पूर्वापर प्रसङ्ग पर विचार करने पर स्पष्ट विदित होता है कि इस सूत्र में यद्यपि विश्वजित् यज्ञ में सार्वभौम राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को सम्पूर्ण पृथ्वी के दान देने का निषेध है, तथापि महाभारतादि आर्ष ग्रन्थों में राजाओं द्वारा सर्वस्व दान देने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ययाति राजा अपने दौहित्र के प्रति कहते हैं—

"अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्य पूर्णामिमाभाविलीवाहनेना गोभिः।
सुवर्णेन धानैश्च मुख्यैस्तदा ददेगा शतमर्वुदानि॥"

—महाभारत आदि पर्व ६३-२४

महाराज पृथु द्वारा भी सम्पूर्ण पृथ्वी का दान दिया जाना प्रसिद्ध है—

"इमां च पृथिवीं सर्वां मणिरत्नविभूषिताम्,
सौवर्णीमकरोद्राणा ब्राह्मणेभ्यश्च तां ददौ॥"

—महाभारत द्रोणपर्व ६६।३१

और भी परशुरामजी, रघु और भगवान् रामचन्द्र आदि द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी का दान दिये जाने के उल्लेख उपलब्ध हैं। फिर इस सूत्र का राज्य के उत्तराधिकारित्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

श्री वाजपेयीजी ने अपने मत की पुष्टि में एक प्रमाण और दिया है—

"ता अस्मा इष्टा' प्रीता एत सर्वमनुमन्यन्ते।
ताभिरनुमत सूयते, यस्मै वै राजानो राज्य मनु
मन्वते स राजा भवति। न स यस्मै ता।"

—शतपथ ब्राह्मण ६,३,२

अर्थात प्रजाजन जिससे सतुष्ट होते हैं और जिसे चाहते हैं और जिसके राजसूय का अनुमोदन करते हैं, वही राजा होता है। वह राजा नही होता जिसका प्रजाजन अनुमोदन नही करते।

किन्तु यह भी अप्रासिङ्गिक है। इस मन्त्र के द्वारा यह प्रमाणित नही होता है, कि राज्यारूढ राजा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार नहीं, अस्तु।

वेदवेत्ता महर्षियो द्वारा प्रचलित प्रथा एव उनके वाक्य वेद-विरुद्ध कपोल-कल्पित नहीं हो सकते। स्मृतियो के ही नहीं श्रुतियों के वाक्य भी एक दूसरे से विरुद्ध न होने पर भी स्थूल दृष्टि से विरोधात्मक प्राय प्रतीत होते है। किन्तु पूर्वापर प्रसङ्गों पर विचार करने से उनका समन्वय हो जाता है। भगवान् वेदव्यास जी ने वेदान्त सूत्र में और धर्मशास्त्र के विद्वान् व्याख्याकारों ने इस विषय पर अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया है।

भगवान् श्री रामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में सीताजी का अपहरण करके उन पर खड्ग प्रहार करने को उद्यत होने वाले रावण की स्त्री मदोदरी के साथ वानरों द्वारा किये गये व्यवहार को वाजपेयीजी अक्षन्तव्य बताते हैं, किन्तु जेष्ठभ्राता युधिष्ठिर ने दुर्योधन का कुछ भी अपकार नहीं किया था, उनकी धर्मपत्नी मातृतुल्या द्रौपदी के साथ दुर्योधन द्वारा किया गया महा घृणित दुर्व्यवहार को आप क्षन्तव्य

बताते हैं—"किमाश्चर्यमतः परम्" उपसंहार में विनीत निवेदन यही है—

"अन्यर्थयेवितथवाङ्मयपांशुवर्षैर्माभाविली कुरुत कीर्तिनदीं परेषां[1]"

रामायण में इतिहास

(३)

साप्ताहिक "भारत" के २१ जून सन् १९४३ के अंक में श्री अंबिकाप्रसादजी वाजपेयी का फिर एक लेख 'रामायण में इतिहास' शीर्षक निकला है। श्री वाजपेयीजी को तुलसीकृत रामायण के वर्णनों में जो कपोल कल्पना का भ्रम था वह तो हमारे पहिले लेख द्वारा संभवतः निर्मूल हो गया है। अब आप वाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण के वर्णनों पर आक्षेप करते हैं। इन आक्षेपों में अधिकांश मौलिकता का अभाव है प्रायः पाश्चात्य लेखकों का पिष्ट-पेषण मात्र है। पाश्चात्य लेखकों ने हमारे आर्ष ग्रन्थों को अनैतिहासिक बतलाने का जो दुःसाहस किया है, उन्हीं के विषोद्गार की दुर्गंध वाजपेयीजी के लेख में प्रस्फुटित हो रही है।

वाजपेयीजी कहते हैं—

"वाल्मीकीय रामायण आदि संस्कृत काव्य ग्रंथ हैं—इतिहास नहीं, फिर भी भोलेभाले लोग भक्तजन इनमें लिखे अक्षर अक्षर पर विश्वास करते हैं और समझते हैं कि इनमें जो कुछ लिखा है, वह घटनाओं के आधार पर है, परन्तु वास्तविकता से बहुत दूर है और अतिरंजन से आदमी का दिमाग खराब हो जाता है कि वह गेहूँ और भुसी में भेद नहीं कर पाता।"

इतना लिखकर आप रामायण में जो जो इतिहासात्मक वर्णन स्वीकार करते हैं, उनकी एक तालिका देकर आपने अपनी कल्पना द्वारा गेहूँ और भुसी का भेद स्पष्ट करने की अनधिकार चेष्टा की है। अर्थात् वाजपेयीजी की त्रैकालज्ञ दिव्यदृष्टि द्वारा तालिका के

---

१ प्रार्थना है कि मिथ्या वितुण्डावाद रूपी कीचड़ की वर्षा से दूसरे सज्जनो की कीर्ति रूपी नदी को गदली न करिये, न करिये।

अतिरिक्त जो भी कुछ रामायण में वर्णन है, उसे वे महर्षि वाल्मीकिजी की प्रतिरंजित मिथ्या कपोल-कल्पना मानते हैं। अन्य काव्य ग्रन्थों एव कल्पित उपन्यास और कहानियों के समान वाल्मीकीय रामायण को भी अधिकांश में वे कपोल कल्पित मानते हैं।

वाजपेयीजी का यह मत किसी आर्ष ग्रन्थ अथवा ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित नहीं है—आपने अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण उद्धृत नही किया है, वाह्य प्रमाण का अथवा वाल्मीकीय रामायण के अन्तर्गत प्रमाण का आपने आश्रय नही लिया है। इस अवस्था में जो कुछ वाजपेयीजी ने लिखा है। यदि वह उनकी व्यक्तिगत धारणा का प्रश्न है तो इस विषय म हम को कुछ लिखना नही है। आपके लेख से धर्मपरायण लोगो में सन्देह और संशय उत्पन्न होने का भय है, अतएव इस विषय में कुछ लिखना आवश्यक समझा जाता है।

वाल्मीकि रामायण में, महर्षिवर्य वाल्मीकि के प्रति सृष्टिकर्ता स्वयभू के वाक्य हैं—

"आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयम्भुवः ,-(२-२२)
तमुवाच ततोब्रह्मा प्रहसन्मुनिपु गवम्—(२-३०)
रामस्यचरितकृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम- (२-३२)
रामस्य सह सौमित्रे राक्षासना व सर्वश',
वैदेह्याश्चैव यद्वृत्त प्रकाश यदि वा रह । —(२-३४)
तच्चाप्यविदित सर्व विदित ते भवष्यति,
न तेवागनृता काव्ये काचिदेव भविष्यति।" —(२-३५)
—वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड

अर्थात स्वयभू भगवान् ब्रह्मा ने मुनिपु गव वाल्मीकि से कहा कि आप सपूर्ण रामचरित्र की रचना करिये, राम लक्ष्मण और सीता एव राक्षसादिका प्रकट अथवा गुप्त सब रहस्य आपको स्वयं विदित होजायगा और आपकी वाणी मिथ्या नहीं होगी। जो भी कुछ आप काव्य रचना करेंगे वह सब सत्य ही होगा।

वाजपेयीजी का कहना है—

"राम को ऋषियों ने राक्षसों को मारने के लिए खूब उभारा, यहाँ तक समझा दिया कि वे आदमियों को खा जाते हैं।"

प्रश्न है, कि वाजपेयीजी के पास अपनी कल्पना का क्या प्रमाण है कि राक्षस नर-भक्षक नहीं थे ?

वाजपेयीजी कहते हैं—

"हनुमान के पास एक मानोप्लेन (विमान) था, जिस पर उन्होंने दो बार लंका की यात्रा की और संजीवनी लाने को गये थे।"

अर्थात् वाजपेयीजी का कहना यह है कि यद्यपि हनुमानजी के विमान द्वारा यात्रा की थी, पर रामायण में इसका उल्लेख न करके हनुमानजी को आकाश-गामी सिद्ध करने की मिथ्या कल्पना की गई है। किन्तु वे भूल जाते हैं, कि कुछ समय पहिले तक विमानों का अस्तित्व वाजपेयीजी के मार्ग-दर्शक पाश्चात्य विद्वान् स्वीकारही नहीं करते थे। यदि इस समय तक विमानों का आविर्भाव न हुआ होता तो वाजपेयीजी जैसे महापुरुष यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि हनुमानजी द्वारा समुद्रोल्लंघन करना और संजीवनी का लाना असंभव कल्पना है। माना कि हनुमानजी के पास एक विमान था, किन्तु इतना कहने से समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि वानर सेना एवं भगवान रामचन्द्र के पास तो विमान नहीं थे, फिर उन्होंने समुद्र का उल्लंघन किस प्रकार किया ? यदि यह कहा जाय कि समुद्र पर सेतु बाँधा गया था। यदि नल और नील जैसे वानरों द्वारा महान सेतु रचना का कार्य संभव हो सकता है तो पवन-सुत हनुमान जैसे महान् बलशाली द्वारा विना ही विमान के समुद्रोल्लंघन क्यों नहीं संभव हो सकता था।

वाजपेयीजी रावण के पास भी एक पुष्पक विमान का होना मानते हैं। प्रश्न होता है कि दण्डकारण्य में खरदूषणादि राक्षसों के बध हो जाने का संवाद लेकर सूर्पणखा रावण के समीप किस प्रकार समुद्रोल्लंघन करके लंका पहुँची, और रावण द्वारा अपमानित होकर विभीषण लंका से किस प्रकार समुद्रोल्लंघन करके भगवान् रामचन्द्र के पास पहुँचा। बेचारा विभीषण तो भागकर गया था, उसके पास विमान का होना संभव ही कहाँ था।

आप कहते हैं—"वानर साक्षात् वानर नहीं थे और न रावण के ही दश शिर थे, किन्तु भक्त जनों ने राम की महिमा दिखाने के लिये रावण को दश शिर का जन्तु और वानरों को असली वानर प्रसिद्ध कर दिया।"

सम्भव है आप रावण को महा पराक्रमी योद्धा मानते हैं, फिर उसके दस सिर का होना या नहीं होना भगवान् राम की महिमा का द्योतक किस प्रकार हो सकता था। रावण के दश शिर न थे और वानर असली वानर न थे, इसका वाजपेयीजी के पास प्रमाण ही क्या है? वानर असली वानर नहीं थे, इस विषय में आप ने जो वैज्ञानिक प्रमाण दिया है, वह बड़ा मनोरंजक है। आप कहते हैं कि मनुष्य के अँगूठा होता है वह उसकी इच्छा शक्ति का द्योतक है। वानरों के अँगूठा होता है पर वह मनुष्य के अँगूठे की जगह नहीं होता। धन्य है, इसके द्वारा तो वानरों का मनुष्यातिरिक्त असली वानर होना ही सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर भी आर्ष ग्रन्थों के वाक्यों पर अविश्वास किया जाना शास्त्र-सम्मत नहीं है। महाभारत में राजा युधिष्ठिर द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि प्रत्यक्ष-प्रमाण और शास्त्र-प्रमाण में कौनसा प्रमाण प्रबल है। पितामह भीष्म ने कहा कि अपने को पंडित मानने वाले तर्कवादी जो प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्मुख शास्त्र प्रमाण को अप्रमाणिक मानते हैं वे मूर्ख हैं, उनका कहना केवल विवाद मात्र है—

"प्रत्यक्षं कारणं दृष्ट्वा हैतुकाः प्राज्ञमानिनः,
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशय मेव च। —(१६२-५)
तदयुक्तं व्यवस्यन्ति बालाः पंडितमानिनः, —(१६२-६)
प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः,
न स प्रमाणतामेति विवादजननो हि सः" —(१६२-६४)

जब तर्कमूल प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में यह सिद्धान्त है, तब हेत्वाभास-मूलक अनुमान जन्य प्रमाण का शास्त्र प्रमाण के सम्मुख मूल्य ही क्या हो सकता है।

(४)

साप्ताहिक भारत के ता० २२ नवम्बर के १६४ के अङ्क में पं० अम्बिकाप्रसादजी का एक लेख फिर निकला है, आप कहते हैं—

"यदि लोग अन्धकार में से प्रकाश में आना चाहें तो उन्हें जबरदस्ती अन्धकार में रखने की चेष्टा करना अनुचित है। जिन्हें धर्म की अन्धश्रद्धा बहका नहीं सकती, कभी अन्धकार में नहीं रह सकते।"

आपका यह अनुशासन वस्तुतः अभिनन्दनीय है। किंतु वाजपेयीजी को उचित तो यह था कि पहिले वे स्वयं अपने आगे के अन्धकार को हटाकर प्रकाश उपलब्ध करलेते, तदनंतर दूसरों को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते।

वाजपेयीजी ने अपने पहिले लेखों में हनुमानजी के पास एक मोनोप्लेन का होना और रावण के पास भी एक विमान का होना कहा था, इस पर आपसे यह प्रश्न किया गया था कि शूर्पणखा और विभीषण के पास तो आप विमानों का होना नहीं कहते फिर उन्होंने समुद्रोलङ्घन किस प्रकार किया? इसका आप कुछ समाधान नहीं कर सके हैं। वाजपेयीजी ने भरतजी को राज्यारूढ़ करने में दशरथजी का अनधिकार कहा है, और इसके प्रमाण में आपने पूर्व-मीमांसा का एक सूत्र एवं शतपथ ब्राह्मण का एक मंत्र उधृत किया था, इस पर हमने लिखा था कि इस सूत्र एवं मन्त्र का विचाराधीन विषय के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसका भी वाजपेयीजी कोई समाधान नहीं कर सके हैं। और, "जो पंचहि मत लागत नीका, करहु हरषि हिय रामहि टीका" और "जिहि पितु देय पाव सो टीका, वेद विहित संमत सबहो का" दोनों चौपाइयों को वसिष्ठजी की कही हुई बतलाकर वाजपेयीजी ने दूसरी चौपाई के वाक्य को पहिली चौपाई के वाक्य के विरुद्ध बतलाकर पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी पर आक्षेप किया था। इस पर हमने निवेदन किया था कि पहिली चौपाई अपने मन्त्री आदि सभा-सदों से महाराज दशरथजी की कही हुई है और दूसरी चौपाई वशिष्ठजी द्वारा भरतजी को दशरथजी के स्वर्गगामी होने के बाद कही हुई है।

श्री वाजपेयीजी कहते हैं—

"राम रावण का युद्ध यदि सर्वथा कवि-कल्पित न हो तो उसके वर्णन में इतिहास निकालना चाहिये। इससे यह प्रतीत होता है कि आपको श्रीरामचरित्र के ऐतिहासिक होने में भी सन्देह है। आश्चर्य तो यह है कि आप कहते हैं "हमने पाश्चात्य लेखकों का अनुसरण नहीं किया, किया होता तो हम उनके उद्धरण दिखलाते।" प्रश्न है कि क्या किसी पूर्व लेखक के वाक्यों का उद्धरण दिये बिना उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता ? रामायण आदि आर्ष ग्रन्थों को अनैतिहासिक बतलाना क्या वाजपेयीजी के मस्तिष्क का नवीन आविष्कार है ? इसका आविष्कार क्या बहुत पहिले मि० वेबर और मि० मेकडोनल आदि पाश्चात्य लेखकों द्वारा नहीं हो चुका है ? अभी कुछ दिन पहले किसी पत्र में यह भी देखा गया कि किसी पाश्चात्य लेखक ने हनुमानजी द्वारा समुद्रोल्लङ्घन एरोप्लेन की सहायता से किया जाने का एवं हनुमानजी का वानर न होने का भी उल्लेख भी किया था। ऐसी परिस्थिति में स्पष्ट है कि श्री वाजपेयीजी के रामायण सम्बन्धी लेख केवल वितुण्डावाद मात्र हैं।

—: ꣸ :—

श्री विद्याभास्करजी का "काव्यसर्वस्व"

श्री विद्याभास्कर की कृति यह अगणित दोषों का आगार,
उनमें से कतिपय दोषों पर किया गया है यहां विचार।
जो विद्वान करेंगे उनका निर्मत्सर हो यदि उद्धार,
नत मस्तक हो उन्हें करूँगा मैं प्रणाम सादर शतवार।

विद्याभास्कर साहित्याचार्य श्री परमानंदजी शास्त्री प्रणीत "काव्यसर्वस्व" ग्रंथ को दृष्टिगत करने की प्रबल इच्छा थी, क्योंकि महाकवि भारवि की-"ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्[१]" इस उक्ति से अभिज्ञ होते हुए भी आप अपने लेखों में प्रायः इस स्वकीय ग्रंथ की गुण-गरिमा का गान "भेरीघोषेण सर्वशः" करते रहते हैं। अतः हमने आशा की थी कि यह ग्रन्थ अवश्य महत्वपूर्ण होगा और इसमें साहित्य-विषय का बहुत कुछ मार्मिक विवेचन किया गया होगा किन्तु

"सा दग्धा सुकुमारचारुलतिका हा भानुदावाग्निना।"

हमारी आशा लता एक बार ही श्री भास्करजी की प्रचण्ड दावाग्नि द्वारा दग्ध होगई। 'काव्यसर्वस्व' आलोचनीय होने पर भी हमारी इच्छा इसके दोषोद्घाटन की न थी, किंतु जब आप के इस वाक्य पर दृष्टि गई कि यह ग्रंथ प्रौढ़ अर्थात् उच्च श्रेणी के जिज्ञासुओं के लिये लिखा गया है, तो यह दिखाने के लिये कि इस ग्रंथ द्वारा, उनकी जिज्ञासा की पूर्ती कहां तक होना संभव है, इस अवाञ्छनीय कार्य में अगत्या प्रवृत्त होना पड़ा है।

श्री विद्याभास्करजी के विभावना अलङ्कार विपय के विचित्र विवेचन द्वारा आपकी अलंकार विषयक मर्मज्ञता का साहित्य-संसार को पर्याप्त परिचय प्राप्त हो चुका है।

१. सज्जन अपने कार्य द्वारा ही अपनी उपयोगिता प्रकट करते हैं, न कि मुख से।

काव्यसर्वस्व के अलकार प्रकरण पर सर्व प्रथम विहगम दृष्टि पात करने पर ज्ञात हुआ, कि जिस "वक्रोक्ति" अलङ्कार को महान् साहित्यचार्य श्री मम्मट ने शब्दालंकारों में सर्व प्रथम स्थान प्रदान किया है, उसी वक्रोक्ति अलंकार का काव्यसर्वस्व में—

"वक्रोक्ति अलकार वहा होता है, जहा वक्ता किसी दूसरे द्वारा या अपने द्वारा किसी सीधे अभिप्राय से कहे हुए शब्दों का विपरीत अर्थ लेकर उपालम्भ के साथ कहता है।"

यह लक्षण लिखकर फिर लिखा है-"वह दो प्रकार की होती है, साधारण तथा श्लिष्ट। साधारण वक्रोक्ति वहा होती है, जहा श्लेष का आश्रय न लिया जाय, साधारण वक्रोक्ति को काकु-वक्रोक्ति भी कहते हैं।"

श्री विद्याभास्करजी द्वारा निर्मित यह लक्षण सर्वथा विलक्षण है—"नैतत्पूर्वं कृत कर्म न करिष्यन्ति चापरे।" जिन शब्दो के नीचे रेखा लगी है, उनके द्वारा "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" की लोकोक्ति प्रत्यक्ष चरितार्थ हो रही है। आपने वक्रोक्ति के इस लक्षण में— "अपने कहे हुए" शब्दों का स्वयं वक्ता द्वारा भी विपरीत अर्थ ग्रहण किया जाना बतलाया है। किन्तु वक्रोक्ति अलकार में अन्य व्यक्ति द्वारा कहे हुये वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा ही अन्य अर्थ कल्पना किया जाता है—न कि स्वय वक्ता द्वारा अपने ही कहे हुये वाक्य का अन्य अर्थ कल्पना किया जाना। प्राचीन साहित्याचार्यों ने वक्रोक्ति अलकार के—

"वक्ता तदन्यथोक्त व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचन यत्पदभङ्ग्या सा श्लेषवक्रोक्तिः।"

—रुद्रटालङ्कार २।१४

"यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।"

—काव्यप्रकाश ६।७८

"अन्यस्यान्यार्थक वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि।
अन्यश्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा॥"

—साहित्यदर्पण १०।६

इत्यादि लक्षणों में स्पष्टतया अन्य व्यक्ति द्वारा कहे हुए वाक्य को अन्य व्यक्ति द्वारा ही अन्यार्थ-कल्पना किये जाने में वक्रोक्ति अलंकार का होना कहा गया है। आप कहेंगे कि जब अपने कहे हुए वाक्य का स्वयं वक्ता द्वारा काकु उक्ति से विपरीत अर्थ प्रकट किया जाता है, तो वहाँ भी वक्रोक्ति अलंकार क्यों नहीं माना जाता ? संभवतः श्रीविद्याभास्करजी अपनी इसी धारणा के कारण भ्रान्त होगये प्रतीत होते हैं। किन्तु इसप्रकार का भ्रम आप जैसे साहित्याचार्य को होना एकबार ही महान् आश्चर्यकारक है। जहाँ वक्ता द्वारा अपने वाक्य का काकु-उक्ति से विपरीत अर्थ सूचन किया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार नहीं, किन्तु वहाँ काक्वाक्षिप्तगुणीभूत व्यंग्य होता है। काव्यप्रकाश में काक्वाक्षिप्तगुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण में—

"मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिवाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥"

पाँच गाँव लेकर कौरवों से संधि करने की बात सहदेव के कहने पर यह भीमसेन के वाक्य हैं। इसमें भीमसेन ने अपने कहे हुए इन वाक्यों में काकु उक्ति द्वारा विपरीत अर्थ सूचन किया है। इसी प्रकार श्री विद्याभास्करजी के बतलाये हुए वक्रोक्ति अलङ्कार के—

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुमहिं उचित बन मो कहँ भोगू॥"

इस उदाहरण में भी भगवती जनकनन्दिनी ने अपने वाक्यों में काकु-उक्ति द्वारा विपरीत अर्थ सूचन किया है। अतएव श्री विद्याभास्करजी द्वारा बतलाया हुआ वक्रोक्ति का यह उदाहरण काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य का है, न कि वक्रोक्ति अलङ्कार का। अतः आपका यह वक्रोक्ति का लक्षण असंभव दोष से ग्रस्त है।

(२) फिर आपने वक्रोक्ति के उक्त लक्षण में विपरीत अर्थ-प्रकट किया जाना भी बतलाया है। किन्तु वक्रोक्ति अलंकार में सर्वत्र विपरीत अर्थ ही प्रकट नहीं किया जाता। देखिये वक्रोक्ति के—

"को तुम? हैं घनस्याम हम तो बरसौ कित जाय।"

इस उदाहरण में 'घनस्याम' शब्द का विपरीत अर्थ नहीं, किन्तु अन्य अर्थ मात्र कल्पना किया गया है। ऐसे वर्णनों में आपका लक्षण अव्याप्त रहता है। अत यह लक्षण अव्याप्ति[1] दोष से भी दूषित है। प्राचीनाचार्यों ने वक्रोक्ति के लक्षण में विपरीत अर्थ प्रकट करना न कहकर केवल अन्य अर्थ की कल्पना किया जाना ही कहा है।

(३) फिर आपने उक्त लक्षण में उपालम्भ के साथ प्रकट करना भी बतलाया है। पर वक्रोक्ति अलकार में सर्वत्र उपालम्भ भी प्रकट नहीं किया जाता। देखिए—

गिरिजे, कहु भिक्षुकराज कहा? बलिद्वार गये वह हैं न यहा,
हम पूछत हैं वृषपालहि को, वह तौ व्रज गौन चरातु वहा।
कहो ताडव नृत्य रच्यौ कित है? जमुना-तट वीथिन होतु तहा,
भयौ सागर-सैल-सुतान में आज परस्पर यौं उपहास महा।

यहा श्री लक्ष्मीजी और गिरिराजनन्दिनी के परस्पर कथनोपकथन में उपालम्भ नहीं,—उपहास मात्र है। अतः ऐसे वर्णनों में भी आपका निर्दिष्ट यह लक्षण अव्याप्त ही रहता है।

आपने अलकार प्रकरण के प्रारम्भ में शब्दालङ्कारों का अभूतपूर्व विश्लेपण किया है। शब्दालकार, वर्णालकार और वाक्यालंकार। इस विश्लेपण में तो आपने (पृ० २१४ में) यमक की शब्दालकारों में गणना की है (आपका अभिप्राय यहाँ 'शब्दालकार' से केवल सार्थक शब्दों के प्रयोग वाली रचना से है) किन्तु यमक केवल सार्थक शब्दों के प्रयोग में ही नहीं, निरर्थक वर्णों के प्रयोग में भी होता है। स्वयं विद्याभास्करजी ने (पृ० २६७ में) यमक को शब्दालकारों के सिवा वर्णालकार—वर्ण यमक—भी बतलाया है। अस्तु, आपने यमक का निम्नलिखित लक्षण लिखा है—

"यमक अलकार वहाँ होता है, जहाँ नानार्थक शब्द की या शब्दों के किसी एक देश की आवृत्ति समान क्रम से होती है।" (पृ०

१—जो बात लक्षण में कही जाय, वह किसी किसी स्थल में घटित हो, और किसी किसी स्थल में घटित न हो, वहा 'अव्याप्ति' दोष होता है।

२९६) । इसमें 'नानार्थक' का प्रयोग चिन्त्य है। यमक में नानार्थक शब्दों की आवृत्ति तो अवश्य होती है, किन्तु जिन शब्दों की आवृत्ति की जाती है, उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। अतः 'नानार्थक' शब्दों की आवृत्ति होने पर भी यदि नानार्थक शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न नहीं हो; तो वहाँ यमक नहीं हो सकता है। जैसे—

शंखचक्रयुत जो रहते हरि वही शंखचक्र विन हैं यह हरि,
वे स्थित हरि वैकुंठ धाम में, यह वृन्दावन गोपवेश हरि।

'हरि' शब्द नानार्थक है—इसके श्रीविष्णु, वानर और सिंह आदि अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहाँ नानार्थक 'हरि' शब्द की आवृत्ति होने पर भी 'यमक' अलंकार नहीं; क्योंकि चारों ही स्थानों पर हरि-शब्द का एक ही अर्थ है। फिर यमक के लक्षण में आपने शब्दों की आवृत्ति का समान क्रम से होना बताया है। किन्तु यमक वहाँ भी होता है, जहाँ समान क्रम से आवृत्ति न होकर शब्दों की ध्वनि का समान श्रवण होता है। जैसे—

"भुजलतां जड़तामबलाजनः।"

यहाँ 'जलतां' और 'जड़तां' की समान क्रम से आवृत्ति न होने पर भी इनकी ध्वनि का समान श्रवण है। आपका यह लक्षण यमक के ऐसे उदाहरणों में अव्याप्त रहता है। कहिए, इसमें भी अव्याप्ति दोष है या नहीं ? 'एतद्वेतिनुमिच्छामि यदि नो मन्यसे क्षमम्।' —यदि आप यह कहें कि 'हमारे निर्मित यमक के लक्षण पर जो आक्षेप किये गये हैं, उनका हमारे लक्षण के बाद पृथक् उल्लेख कर दिया है'-तो यह उत्तर आपके लक्षण की रक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि लक्षण वही पूर्ण और निर्दोष होता है, जिसके शब्दार्थ में सभी बात कह दी जाय और अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोष न हों। देखिए, काव्यप्रकाश में यमक के लक्षण में क्या कहा है—

"अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।"-९।११७

अर्थात् यमक अलङ्कार में निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति या पुनः श्रवण होता है—जहां सार्थक—अर्थवाले-

वर्णों की आवृत्ति या पुनः श्रवण हो, वहाँ उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होना चाहिए। शोक। अलङ्कारों के लक्षण एव उदाहरणों को लिखते समय आप निःशक अनर्गल लेखनी चलाते गये।

आप 'अनुप्रास' के विषय में कहते हैं—"हमारेविचार में 'वृत्यनुप्रास' में 'आ' उपसर्ग का लोप हुआ है। वास्तव में इस अनुप्रास को 'आवृत्ति-अनुप्रास' कहना चाहिए, क्योंकि इसमें] अनुप्रास ही आवृत्त होता है।"

धन्य है, क्या वृत्यनुप्रास में ही आवृत्ति होती है, अन्य अनुप्रासो में आवृत्ति नहीं होती ? वृत्यनुप्रास में तो 'उपनागरिका' आदि] वृत्तियों के अनुसार रचना होती है, इसीलिये वृत्यनुप्रास सज्ञा दी गई है।

शव्दालकारों में वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ही के लक्षणों में अधिक जटिलता उपस्थित नहीं होती। शव्दालकारो में तो एक 'श्लेष' का विषय ही ऐसा महत्वपूर्ण एव जटिल है, जिसपर सस्कृत साहित्य के सिद्धान्त ग्रन्थों में अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया गया है। और] श्लेष के विवेचन में सुप्रसिद्ध महान् साहित्याचार्यों का मतभेद भी है, अतः श्री विद्याभास्कराचार्यजी ने श्लेष को बहुत ही सक्षेप में निमटा दिया है, फिर भी आप बुरी तरह फँस गये हैं। किन्तु श्लेष जैसे महत्वपूर्ण अलकार पर आलोचना के लिए अधिक विस्तार होना अनिवार्य है। अतः हम इस लेख को यहीं समाप्त करते हैं। आशा है, श्री विद्याभास्करजी हमको प्रतिद्वन्द्वी न समझ कर महाकवि भारवि की—

"ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः।"

इस सारगर्भित सूक्ति पर ध्यान देकर शान्त चित्त से इस लेख पर विचार करने की कृपा करेंगे।

———

कविराजा का 'जसवंतजसोभूषण'

अलङ्कार के नामों में ही हैं लक्षण यह नव सिद्धान्त,
इस जसवंतजसोभूषण में प्रतिपादित, वह भ्रांत नितांत।
भरत आदि पूर्वाचार्यों पर मिथ्याक्षेप, सगर्व महा—
किया, उसीका इस निबन्ध में खंडन है द्रष्टव्य यहाँ।

इस ग्रन्थ के लेखक चारण-कुलावतंश कविराजा मुरारीदानजी हैं। ये जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंहजी के राजकवि थे। 'जसवंत-जसोभूषण' की रचना कविराजा ने अपने आश्रयदाता जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंहजी के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये की है। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण है। कविराजा ने सुब्रह्मण्यशास्त्री जैसे उत्कट विद्वान् द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी। शास्त्रीजी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराणा सज्जनसिंहजी बहादुर ने इसीलिए जोधपुर भेजा था। कविराजा मुरारीदान स्वयं भी साहित्यिक विद्वान् थे। फिर इस ग्रन्थ की रचना में शास्त्रीजी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था। यही नहीं, शास्त्रीजी द्वारा जसवंतजसो-भूषण का संस्कृत भाषा में अनुवाद भी 'यशवंतयशोभूषण' नाम से प्रणीत किया गया है। यह दोनों[1] ही ग्रन्थ आलोचनात्मक हैं। अस्तु—

इस ग्रन्थ में कविराजा मुरारीदानजी ने अत्यन्त गर्व के साथ यह घोषणा की है कि—"अलङ्कारों के नामों में ही अलङ्कारों के लक्षण हैं! इस रहस्य को आजतक किसी भी प्राचीन आचार्य ने नहीं समझा, यदि वे इस रहस्य को जानते तो अलङ्कारों के लक्षण निर्माण न करते।"

---

१. ये दोनों ग्रन्थ जोधपुर के स्टेट प्रेस में राज संस्करणरूप में विक्रमीय संवत् १९५४ और वि० सं० १९५८ में मुद्रित हुए हैं। हमको भी कविराजाजी ने दोनों ग्रन्थ भेजे थे। इस ग्रन्थ की रचना पर जोधपुर नरेश ने कविराजाजी को गमनागमन के समय ताजीम (उत्थान) का गौरव प्रदान किया था, और एक लक्ष का दान पारितोषक में दिया था।

कविराजा की यह गर्वोक्ति केवल ि
रहस्य से प्राचीन आचार्य अनभिज्ञ ही थे
नामों के अर्थ में लक्षण ही हैं। एव न कवि
को निर्भ्रान्त सिद्ध ही कर सके हैं। कवि
पुष्टि में एक विभ्राट् प्रमाण भी उपस्थित कि
देव-प्रणीव 'चन्द्रालोक' की "स्यात्स्मृतिभ्रानि

इस कारिका द्वारा सिद्ध होवा है
इन्ही तीन अलकारों के सिवा अन्य अल
नहीं।" किन्तु चन्द्रालोक की इस कारिका
का समर्थन कदापि नही हो सकता। इस
केवल यही है कि स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह
प्रसिद्ध वैचित्र्य है, इनके लक्षण लिखना
नाम ही लक्षण रूप हैं। इन तीनों के अ
सुबोध नही, जिनके यथार्थ स्वरूप, नाम
जायँ। अलङ्कारों के नामों में केवल उनके
मात्र सूचित है। और यही बात प्राचीना
में ही लक्षण' वाली बात वे अवश्य ही न
नाम मात्र में लक्षण हो ही सकता है, जैस
यदि प्राचीनाचार्यो को यह ज्ञात न होत
स्थूल चमत्कार के सकेत-सूचक हैं, तो
के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दि
'काव्यप्रकाश' वामनाचार्य कृत बाल
नामार्थ, व्युत्पत्ति द्वारा इस प्रकार सम

(१) 'उपमेयोपमा'—उपमेयेन उ
(२) 'समासोक्ति' समासेन सचि
(३) 'निदर्शना'—निदर्शन दृष्टा
(४) 'दृष्टान्त' दृष्टोऽन्त निश्चय
(५) दीपक—एकस्यैव समस्तवा

यह दिग्दर्शन मात्र है। कविराजाजी ह
की स्पष्टता भी प्रायः इसी का अनुस

अलङ्कार के नाम मात्र में लक्षण हो ही नहीं सकते। उदाहरण रूप में प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाला 'वक्रोक्ति' अलकार ही लीजिये। इस अलंकार में वक्र (टेढ़ी) उक्ति में चमत्कार होता है, इसके चमत्कार का संकेत-सूचक 'वक्रोक्ति' नाम है। किन्तु किस प्रकार की वक्रोक्ति के चमत्कार में यह अलंकार होता है, यह बात इसके नाम के अर्थ द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकती अतः काव्यप्रकाश में इस अलंकार का लक्षण—

'यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येन योज्यते,
श्लेषेण काका वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।'

अर्थात् 'अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का दूसरे व्यक्ति द्वारा श्लेष अथवा काकु उक्ति से अन्य अर्थ अर्थात वक्ता के कहे हुये वाक्य का अन्य (दूसरा) अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ वक्रोक्ति' अलङ्कार होता है। उस अन्यार्थ की कल्पना श्लेष अथवा काकु उक्ति द्वारा होती है। किन्तु वक्रोक्ति के नामार्थ में यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिए लक्षण निर्माण किया जाना अनिवार्य है।

अब देखिये, 'नाम में ही लक्षण' बतलाने वाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति अलकार के 'नामार्थ की स्पष्टता इस प्रकार की है—

"वक्र" शब्द का अर्थ है कुटिल। इसका पर्याय है बाका, टेढा इत्यादि। वक्रोक्ति नाम की व्युत्पत्ति है—वक्री कृता उक्ति—बाकी की हुई उक्ति। उक्ति का बाका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है। वक्रोक्ति में कही श्लेष होता है, परन्तु वह गौण रहता है" बस इतना लिखकर कविराजा फिर लिखते हैं—

"वक्र करन पर-उक्ति को नृप वक्रोक्ति निहार,
स्वर-विकार श्लेषादिसों होत जु बहुत प्रकार।"

प्रिय पाठक महोदय, ध्यान दीजिये। कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि—"उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है" यह अर्थ 'वक्रोक्ति' के अक्षरों से कहाँ निकल सकता है? इसके अतिरिक्त 'स्वर-विकार' और 'श्लेषादि' अर्थ भी "वक्रोक्ति" शब्द के अक्षरों से कहाँ निकल सकता

है ? और उनका यह कहना भी है कि—"वक्रोक्ति 'पर' अर्थात् अन्य की उक्ति की ही की जा सकती है" सर्वथा मिथ्या प्रलाप मात्र है, क्योंकि वक्रोक्ति स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में भी कर सकता है, देखिये—

"चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां,
नैवांघ्रिपा परभृतः सरितोप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति, नोपसन्नान्,
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।"

—श्रीमद्भागवत २।५.

इस पद्य में श्री शुकदेवजी ने अपनी ही उक्ति में वक्रोक्ति की है। अर्थात् उन्होंने कहा है कि क्या मार्ग में चिथड़े (फटे वस्त्र) नहीं मिलते। क्या वृक्ष फल नहीं देते ? क्या नदियों का जल सूख गया है ? क्या रहने के लिये गुफाऐं बन्द हो गई हैं ? क्या शरणागतों की भगवान् रक्षा नहीं करते ? फिर विद्वद्‌जन धनमदान्धों की क्यों इच्छा करते हैं। किन्तु इसका काकु उक्ति द्वारा यह अर्थ होता है—कि पहनने के लिए मार्ग में अवश्य ही वस्त्र मिल सकते हैं, भोजन के लिये वृक्षों में फल हैं ही, पीने के लिये नदियों में जल भी है, रहने के लिये गुफायें भी हैं और शरणार्थियों की भगवान् अवश्य ही रक्षा करते हैं, फिर विद्वद्‌जनों को धनमदांधों से किसी वस्तु की इच्छा न करना चाहिये। इसमें वक्रोक्ति होते हुए भी वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं है। क्यों कि प्राचीनाचार्यों ने "वक्रोक्ति अलङ्कार" को वक्ता की उक्ति का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पित किये जाने में ही सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता अपनी उक्ति में वक्रोक्ति करता है, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं, किन्तु काक्वाक्षिप्तगुणीभूतव्यंग्य अथवा अवस्थाविशेष में "काकु-ध्वनि" काव्य होता है। वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर-उक्ति और वक्ता की स्व-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती हैं। इसीलिये अगत्या कविराजा को भी वक्रोक्ति के नाम के अक्षरों में संभव न होने पर भी "पर की उक्ति" वाक्य अधिक जोड़ना पड़ा है। कविराजा का "नामार्थ में ही लक्षण है" यह सिद्धान्त तो तभी सिद्ध हो सकता था, जब वे ऊपर से कुछ भी अधिक न कह कर केवल वक्रोक्ति के अक्षरार्थ ही में अलङ्कार का सर्वांगपूर्ण लक्षण

स्पष्ट करके दिखा सकते। अतएव कविराजा के "नाम में ही लक्षण" वाले सिद्धान्त में अतिव्याप्ति दोष अनिवार्य रूप से उपस्थित हो जाता है। ऐसी अवस्था में उनकी यह गर्वोक्ति कि—'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धान्त में अव्याप्ति एव अतिव्याप्ति दोष नहीं हो सकता' मनमोदक का आस्वाद मात्र है। आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा ने केवल प्राचीन साहित्याचार्य महामुनि भरत आदि महानुभावों पर ही नहीं, किन्तु भगवान् वेदव्यास पर भी आक्षेप किया है, उसी लक्षण निर्माण के मार्ग का स्वय भी अनुसरण किया है। यहाँ तक कि अलङ्कारों के लक्षणों के लिये उन्होंने जो भाषा छन्द लिखे हैं, वे प्राय. सस्कृत ग्रन्थों में कथित लक्षणों के अनुवाद मात्र है।

सत्य तो यह है कि अलकारों के स्वरूप समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यों ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र द्वारा सक्षेप में कह दी है, उसी को समझाने के लिये, कोषादि के अनेक प्रमाणों द्वारा, अत्यन्त विस्तार के साथ बड़ी कष्ट कल्पना एव अनुपयुक्त खैंचातानी करके भी, कविराजा अपने सिद्धात की स्थापना करने में कुछ भी सफल न हो सके हैं। अंतवोगत्वा उन्हे भी प्राचीनों का ही अनुसरण करना पड़ा है। ऐसी अवस्था में उनकी—

"भोज समय निकसी नहीं भरतादिक की भूल,
सो निकसी जसवँत समय भए भाग्य अनुकूल।"

इस गर्वोक्तिका मूल्य ही क्या हो सकता है। इसी नामार्थ में लक्षण के सिद्धान्त के चक्र में भ्रमित होकर कविराजा ने बहुत से स्वतत्र अलकारों का दूसरे अलकारों में समावेश कर दिया है। इस की आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा हैं। साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों के लिये उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त हैं।

———

श्रीरामशंकरजी शुक्ल एम. ए. रसाल
का

अलंकार पीयूष

(आलोचना)

"द्राधीयसा धाष्ट्र्यगुणेन शुक्ताः कैः कैरपूर्वैः परकाव्यखण्डैः,
आडम्बरे ये वचसां वहन्ति ते केपि कंथा कवयो जयन्ति।[१]"

—सुभाषितावली पृ० ७०

'अलंकारपीयूष' ग्रन्थ के लेखक पं० रामशंकर शुक्ल एम. ए. 'रसाल' हैं। इस ग्रंथ के दो खंड लगभग ७०० पृष्ठों में हैं। प्रथम खंड के लगभग १५० पृष्ठों में संस्कृत और हिन्दी के साहित्य ग्रन्थों की आलोचना और साहित्य विषय पर विवेचना की गई है। 'पीयूष' पर विभिन्न विद्वानों द्वारा दी हुई अत्यंत प्रशंसात्मक सम्मितियों को पढ़कर उसके आस्वादन के लिये हम बड़े लालायित थे, खेद है कि उसे हस्तगत करने पर उसकी पीयूष-माधुरी का पता हमें कहीं भी न लगा। प्रत्युत रसालजी के भ्रमात्मक विवेचन में अत्यंत पिष्ट-पेषण, पूर्वापर विरोध, और अधिकृत विषय के अध्ययन का अभाव ही सर्वत्र दृष्टिगोचर हुआ।

इस ग्रंथ की रचना के सहायक ग्रंथों में संस्कृत के १३ और हिन्दी के १५ ग्रंथों की नामावली दी गई है। यह नामावली ग्रंथ के गौरव प्रदर्शित करने मात्र के लिये ही दे दी गई है। वास्तव में इस प्रकार की चेष्टाओं से ग्रंथ का कुछ गौरव नहीं बढ सकता है—

१—जिस प्रकार कोई भिक्षुक अपनी कंथा (ओढ़ने की गुदड़ी) को जहां तहां बिखरे हुये सुन्दर वस्त्र खंडों (कपड़े के चिथड़ों) को इकट्ठा रकके ऊपर से चटकीली बना लेता है, उसी प्रकार अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से सुन्दर गद्य पद्य उपयोगी वाक्य रचना को उठा-उठाकर जो धृष्ट ग्रन्थकार अपने ग्रंथ का गौरव बढ़ाते हैं, ऐसे कंथा-कवि धन्यवादार्ह हैं।

आप कहते हैं, जयदेव और अप्पैय्य ने रस-सम्बन्धी अलङ्कारों को स्थान नहीं दिया है। किंतु रस सम्बन्धी अलङ्कार इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में स्पष्ट कहे गये हैं। देखिये—

'रसभावतदाभासभावशान्तिनिबन्धनाः ।
चत्वारो रसवत्प्रेयऊर्जस्विच समाहितम्॥'
—चन्द्रालोक

चन्द्रालोक की इस कारिका में रस के जो अलकार कहे गए हैं, उनका कुवलयानन्द में भी विशद निरूपण है।

(८) केशव मिश्र के 'अलकारशेखर' के विषय (१२०) में आप लिखते हैं—"प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर—यह नवीन है।"

किंतु यह दोनों 'गूढ' और 'प्रश्नोत्तर'—अलङ्कार केशव मिश्र के पूर्ववर्ती महाराज भोज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में दिए गए हैं। जब सरस्वतीकण्ठाभरण का समय ११ शताब्दी और केशव मिश्र का आप १६ वीं शताब्दी स्वीकार करते हैं।

(९) हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन'। इस ग्रन्थ का 'अगाश्रिता, अलकाराः' यह उद्धरण देकर आप लिखते हैं—"भाष्यकार यहाँ पर कहते हैं—रसस्यागिनो यदंग शब्दार्थौ तदाश्रिता अलङ्कारा —रस के अगीरूप शब्द और अर्थ के आश्रित रहनेवाले अलकार हैं।" (पृ०३२)

आप न मूल को समझ सके हैं और न भाष्य को ही। यहाँ शब्द और अर्थ को रस के अगीरूप नहीं, किंतु अगी रस के शब्दार्थ को अग कहे गए हैं।

(१०-११) भामह और उद्भटाचार्य के—'काव्यालकार' और 'काव्यालकारसारसग्रह' का परिचय देते हुए आप कहते हैं—

"इन आचार्यों ने ध्वनि, गुणीभूतव्यग्य, एव लक्षणा आदि को अलंकारों पर ही सर्वथा समाधारित माना है।" (पृष्ठ ३४)

भामह और उद्भट ने कहीं भी ऐसा नहीं माना है ? उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' के विषय में आपने लिखा है—

"उद्भट ने केवल ४१ अलंकारों को ५ वर्गों में विभक्त किया है।" "आपने कुछ नए अलंकार भी दिए हैं— १ काव्यलिंग, २ दृष्टांत, ३ संकर; और ४ पुनरुक्तवदाभास।" (पृष्ठ १११)

किन्तु उद्भट ने ४१ अलंकारों को ५ वर्गों में नहीं, ६ वर्गों में विभक्त किया है। और न 'काव्यलिंग' और 'संकर' उद्भट ने नए अलंकार दिए हैं। उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य दंडी ने 'काव्यलिंग' को 'हेतु' अलंकार के अंतर्गत और 'संकर' को 'संसृष्टि' के अंतर्गत दिखाया है। आप भी दंडी को उद्भट का पूर्ववर्ती स्वीकार कर रहे हैं।

(१२) 'वाग्भटालंकार'। आप कहते हैं—"वक्रोक्ति को अर्थालंकारों से खींचकर 'पुनरुक्तवदाभास' के स्थान पर रक्खा गया है।" यह तो बतलाइये किन-किन आचार्यों ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है ? और इन दोनों में क्या समानता है, जिससे वक्रोक्ति के स्थान पर इसका आदेश किया गया है ?

(१३) भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र'। आप कहते हैं—"इनके बहुत समय के बाद······अलंकारों के स्थान पर रसों को प्रधानता दी गई।" इसके बाद (उसी ६२ पृष्ठ में) आप कहते हैं- 'मुनि महाराज ने रस-सिद्धांत को प्रौढ़ता के साथ प्रतिपादन कर······ सर्वांगपूर्ण व्याख्या दी है।······इसी से यह ग्रंथ रस-सिद्धांत का अद्वितीय आधार हो गया।"

देखिए, इन वाक्यों में पूर्वापर कैसा विचित्र सामंजस्य है। फिर आप (पृष्ठ १५४ में) लिखते हैं कि 'भरत मुनि ने भी ४ अलंकारों की, जिनसे नाटक का घनिष्ठ संबंध है, उनको आवश्यक अंगसा मानते हुए अपने नाट्यशास्त्र में विवेचना की है।' किन्तु नाट्य-शास्त्र में उल्लिखित उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का नाटक से ही क्या घनिष्ठ संबंध है ? भरतमुनि ने तो इन चारों अलंकारों को काव्य से संबंध रखने वाला माना है।

फिर आप जब यह भी कहते हैं कि—"भरत के समय······ काव्यालंकार-शास्त्र तथा नाट्यशास्त्र दो भिन्न-भिन्न शास्त्र थे।" तब इन चारों अलंकारों को, आप नाटक-संबंधी किस प्रकार

किस प्रकार कह सकते हैं। ऊपर के विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि सस्कृत ग्रन्थों से रसालजी कहा तक परिचित हैं। अब रसालजी का विषय विवेचन भी देखिये—

ध्वन्यालोक के विषय में आप कहते हैं— इसके द्वारा "ध्वनि (सूच्यार्थ) तथा व्यग्य का काव्य में प्राधान्य हो गया यहाँतक कि ध्वनि सबन्धी अलकारों की सत्ता स्वतन्त्र रूप से पृथक् हो गई, जैसे प्रौढोक्ति, अन्योक्ति।'–पृ० ६८.

आप ध्वनि और व्यग्य को दो पृथक् पृथक् पदार्थ समझ रहे हैं। अतः व्यग्य क्या पदार्थ है यह भी आप नहीं समझे, जबकि ध्वनि और व्यग्यएक ही पदार्थ है। और प्रौढोक्ति का ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिस "प्रौढोक्ति' का नाम ध्वनि प्रकरण में देख कर, आपने भ्रान्त होकर इसे ध्वनि सबन्धी अलकार समझा है, वह प्रौढोक्ति अन्य पदार्थ है, न कि अलंकार। आप यह भी कहते हैं—"आनदवर्द्धनाचार्यजी उन्हीं अलंकारों की सत्ता मानते हैं, जो ध्वनि के परिपोषक हैं।" (पृ० १३०) किन्तु ध्वन्यालोक में कहीं भी ध्वन्यात्मक अलकारों में ही अलकारों की सत्ता नहीं मानी गई है, जैसा कि—

"प्रधानगुणभेवाभ्याम् व्यग्यस्यैव व्यवस्थिते,
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते।"
ध्वन्यालोक ३-४२

इस कारिका में स्पष्ट कहा है कि प्रधान व्यग्य (ध्वनि) और गुणीभूतव्यग्य के सिवा काव्य का तीसरा भेद चित्र अर्थात् वाच्य अलकार है। फिर आप कहते हैं—

"उन पर कारिका लिखने वाले महाराज यह दिखाने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं कि ध्वनि अलकारों के ही अतर्गत है और अलकारों से ही समुद्भूत होती है।"

प्रश्न होता है कि किन पर कारिका लिखने वाले? वृत्ति और व्याख्या पर तो कारिका लिखी ही नहीं जाती है। प्रत्युत कारिका पर ही वृत्ति और व्याख्या लिखी जाती है। खेद, आप यही नहीं समझते कि कारिका किस पक्षी का नाम है, अस्तु। ध्वन्यालोक की किसी भी

कारिका या वृत्ति अथवा व्याख्या में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि ध्वनि अलंकारों के ही अंतर्गत है। वहाँ तो प्रत्युत अलंकारों का शोभातिशय ध्वनि पर ही निर्भर बतलाया गया है[1]।

"मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि,
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्"

—ध्वन्यालोक ३-३८

(अ) "मम्मटाचार्य अपने काव्यप्रकाश में कहते हैं—काव्य-शोभायाःकर्त्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः—अलंकारों को काव्य सौंदर्यकारी गुणों का उत्कर्षक माना है, इसका कारण यह है कि आप गुण एवं रीति सिद्धान्त के अनुयायी थे"—(अलंकार पी० पृ० ३१)

उसके बाद यह कहते हैं—

(आ) "वामन के रीति सिद्धान्त को आपने (मम्मट ने) ठीक न मानकर उनका खंडन करते हुये अपने मत का प्रदर्शन यों किया है—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः—

—(अलं० पी० पृ० ११८)

देखिये, ऊपर के अवतरण (अ) में तो रसालजी मम्मट को गुण सिद्धान्त के अनुयायी बतलाते हैं और अवतरण (आ) में आप मम्मट को गुण सिद्धान्त का खंडन करने वाले बतला रहे हैं। फिर—

"आपका काव्यप्रकाश नामी ग्रन्थ''गुणों पर जोर देते हुये अलंकारों को इन का परिपोषक मानने तथा विशेषता दिखलाने वाले मानते हैं" (अलं० पी० पृष्ठ ११)

इसमें आप मम्मट को गुण सिद्धान्त को मानने वाले बतला रहे हैं और इसकी पाद-टिप्पणी में आपने ऊपर वाला वही—" "काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मा''''''।" यह सूत्र उद्धृत करके आप कहते हैं अलङ्कारों को काव्य सौंदर्यकारी गुणों का उत्कर्षक माना है। प्रश्न होता है कि किसने माना है? न तो आचार्य

१ देखो ध्वन्यालोक ३।३६

मम्मट ने माना है और न इन सूत्रों का अर्थ ही, जैसा रसालजी ने लगाया है, वैसा है और न यह सूत्र ही आचार्य मम्मट के हैं, जिनको तीन बार आप मम्मट के बतला रहे हैं। यह दोनों ही सूत्र आचार्य वामन प्रणीत "काव्यालङ्कारसूत्र" के हैं और वामन ने भी इन सूत्रों में यह नहीं कहा है, कि अलकार गुणों के उत्कर्षक हैं, उन्होंने अपने इन सूत्रों की वृत्ति में यह अर्थ किया है—"तस्या काव्यशोभायाअतिशयस्तस्य हेतवस्त्वलकाराः" अर्थात् अलंकारों को काव्यशोभा के उत्कर्षक लिखा है, न कि रसालजी के कथनानुसार गुणों के उत्कर्षक। आप फिर लिखते हैं—

"मम्मटजी ने गुणों को रसों का अगी धर्म शौर्यादिक आत्मागी धर्मों के समान तथा रसों के उत्कर्ष के हेतु मानते हुये अलकारों को हारादि भूषणों के समान अंग द्वार से उन गुणों का उपकारक कहा है।" (पृष्ठ ३२)

किंतु मम्मटजी ने तो ऐसा कहीं भी नहीं कहा है। आश्चर्य है कि आप इस की पुष्टि में काव्यप्रकाश की निम्नलिखित कारिकाएँ भी उद्धृत करते है—

"ये रसस्यागिनो धर्माः शौर्यादयइवात्मन.,
उत्कर्षहेतव तेस्युरचलस्थितयो गुणाः।
उपकुर्वंति त सत यगाद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलङ्कारास्तेनुप्रासोपमादयः ।"

शोक है कि इन कारिकाओं का आपने जो अर्थ ऊपर लिखा है, वह अनर्थ है। आप "रसस्यागिनो धर्माः' का अर्थ गुणों को अगी (प्रधान) बतलाते हैं, किन्तु इसका अर्थ है—'अंगिन प्रधानरसस्य धर्मा." अर्थात् रस को अगी कहा गया है, न कि गुणों को। और "उत्कर्षहेतवतेस्यु" का अर्थ आप "रसों को गुणों के उत्कर्ष के हेतु" बताते हैं, क्योंकि आप गुणों को अगी (प्रधान) बतलाते हैं। फिर—"हारादिवदलकाराः" का अर्थ आपने "अलकारो को हारादि के समान अग द्वार से उन गुणो का उपकार करने वाले" किया है, किंतु इसमें अलकारो को रस के उपकारक कहा गया है, न कि गुणों के उपकारक।

सहृदय पाठक, उद्विग्न न होइयेगा, पीयूष द्वारा विष-वमन हो रहा है, पर इसे हृदयस्थ करने में ही हानि हो सकती है, आप केवल विष-मिश्रित पीयूष के वैचित्र्य के दर्शन मात्र से मनरंजन करते रहियेगा। देखिये रसालजी कहते हैं—

"गुण सिद्धान्त को आपने (मम्मट ने) ध्वनि (शब्द शक्ति) अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के साथ ही उठाया और उसे रीति से संयुक्त करने का प्रयास किया है।" (पृ० १७)

किंतु मम्मट ने तो ऐसा प्रयास नहीं किया, प्रत्युत रीति सिद्धान्त का खंडन किया है। इसके बाद आप मम्मटोक्त काव्य के भेद निम्नलिखित बतलाते हैं—

काव्य भेद

उत्तम	मध्यम	अधम
ध्वनि प्रधान	व्यंग्य प्रधान	चित्र प्रधान

आप उत्तम काव्य को ध्वनि-प्रधान, और मध्यम काव्य को व्यंग्य-प्रधान कह रहे हैं, किंतु प्रधान व्यंग्य और ध्वनि क्या दो पदार्थ हैं ? व्यंग्य-प्रधान काव्य ही तो ध्वनि है, और उसी को उत्तम काव्य कहा जाता है, जैसा कि—"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः" इस काव्यप्रकाश की कारिका में कहा गया है। रसालजी ने व्यंग्यर्थ की स्पष्टता—

व्यंजना (व्यंग्यार्थ)

१ गुणीभूत व्यंग्य	२ अगुणीभूत व्यंग्य

इस प्रकार की है। इसमें आपने गुणीभूत को प्रथम श्रेणी का और अगुणीभूत को दूसरी श्रेणी का स्थान प्रदान किया है। किन्तु महान् साहित्याचार्यों ने, जिसे आप अगुणीभूत व्यंग्य (यह रसालजी द्वारा नवाविष्कृत संज्ञा है) बता रहे हैं, उसको प्रधान और प्रथम श्रेणी के स्थान पर अविचल स्थित कर रक्खा है। फिर रसालजी कहते हैं—

"अब लीजिये मम्मट के काव्यप्रकाश को, आपने ध्वनि काव्य को उत्तम, व्यग्य को मध्यम, चित्र को अधम माना है। आप (मम्मट) रस को उतना महत्व नहीं देते जितना ध्वनि और व्यग्य के सिद्धान्त को।" पृष्ठ ११७

काव्यप्रकाश को आप पहिले भी कई बार ले चुके हैं, फिर सही। यह पृष्ठ ७४ का पिष्ट-पेषण मात्र है। हाँ, एक नवीनता अवश्य है। अब रस को भी आप ध्वनि और व्यग्य से अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कह रहे हैं. पीयूष में यदि कुछ रमणीयता और मनोरञ्जनीय वस्तु है वह नवीनता ही तो है– 'प्रतिक्षण या नवतामुपैतितदेवरूप रमणीयताया" खेद है, रसालजी "रस' क्या पदार्थ है ? यह सर्वथा नहीं समझे। सुनिये, "रस" व्यंग्य या ध्वनि रूप ही तो है। और ध्वनि का सर्वोपरि प्राणाधार भी रस ही है। इसके सिवा रसालजी ने यह कह कर तो और भी भयकर प्रमाद किया है कि "मम्मटाचार्य ने रस को उतना महत्व नहीं दिया है।" किन्तु मम्मटाचार्य ने तो काव्यप्रकाश के प्रारम्भ में ही दूसरी कारिका की—

"सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादसमुद्भूत विगलित-वेद्यांतरमानन्दम् ।"

इस वृत्ति में रस को अत्यन्त महत्व दिया है। ऐसी परिस्थिति में भी रसालजी ने ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश पर विवेचन करने का दुस्साहस कर लिया, एतदर्थ वस्तुत' आप धन्यवादार्ह हैं, अस्तु।

जिस विषय पर आपने अलकारपीयूष लिखा है, उस अलङ्कार विषय की आलोचना के लिये तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जाय, तभी रसालजी की रसालता का पता लग सकता है, पर यहाँ तो केवल दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है। आप लिखते हैं—

"मम्मट ने भी अलङ्कारों का वही वर्गीकरण किया है—(१) शब्दालङ्कार, (२) अर्थालङ्कार, (३) चित्रालङ्कार। चित्रालङ्कार के दो भेद किये हैं (१) शब्द चित्र और (२) अर्थचित्र, यही विशेषता आपमें पाई जाती है, किन्तु चित्र को आपने शब्दालङ्कारों में ही लिखा है।" (अल० पी० पृष्ठ १३२)

रसालजी ने जो विशेषता मम्मटाचार्य में बतलाई है, वह उनमें तो

नहीं, किन्तु रसालजी में प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है। रसालजी ने शब्दालंकार और अर्थालङ्कार के अतिरिक्त तीसरा भेद जो "चित्र" समझा है वहशब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार से पृथक् नहीं। आचार्य मम्मट ने जिस चित्र शब्द का प्रयोग अधम श्रेणी के काव्य के लिये किया है वह अलंकार का ही पर्यायवाची शब्द है—उसमें शब्दालंकार और अर्थालङ्कार सभी का समावेश है। जैसाकि काव्यप्रकाश की—

"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरंस्मृतम्।"

इस कारिका में कहा गया है। और शब्दालंकारों में एक चित्र नामक अलङ्कार भी कहा गया है जिसमें पद्मबंध आदि चित्रों के अनुकूल वर्णों की रचना की जाती है। फिर आप (पृ० २४५) लिखते हैं "मम्मटजी ने अर्थगत श्लेष के वर्ण, पद, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, भाषा, प्रकृति तथा प्रत्ययादि कई भेद किये हैं" किन्तु मम्मटजी ने तो ये भेद शब्द श्लेष के लिखे हैं नकि अर्थ श्लेष के।

रसालजी (पृ० २०६ में) यमक के २ भेद अव्ययेत और सव्ययेत बतलाते हैं, किन्तु यमक के ये दो भेद अव्यपेत और सव्यपेत हैं। और आपने अव्ययेत को अभंग और सव्ययेत को सभंग होना लिखा है। किन्तु इनका सम्बन्ध अभंग और सभंग से कुछ भी नहीं है। आप (पृ० २३१ में) कहते हैं कि "यमक के रूपों में लाटानुप्रासादि आ सकते हैं।" और आप लाटानुप्रास के उदाहरण में—

"होय अकलमन्दी तुरत दलबन्दी ह्वै जाय।"

इसको दो बार लिखकर दोनों का अर्थ भिन्न भिन्न लिखते हैं। जबकि लाटानुप्रास में एकार्थक शब्दों का ही प्रयोग होता है, नकि भिन्नार्थक शब्दों का। रसालजी तीन लुप्तोपमा के विषय में (पृष्ठ २०६ में) कहते हैं—'वाचक धर्मोपमानलुप्ता इसमें वाचक-शब्द, धर्म तथा उपमान तीनों अंगों को अव्यक्त रक्खा जाता है। यथा—

'नभ ऊपर सर वीचि युत कहा कहौं वृजराज।
तापर बैठ्यो हौं लख्यौ चक्रवाक युग आज।'

धन्य रसालजी, इसमें तो प्रत्यक्ष ही कामिनी के अंगों के उपमानों का कथन है। यह तो रूपकातिशयोक्ति

अलकार का स्पष्ट उदाहरण है, जिसमें केवल उपमान का कथन किया जाता है, इसमें उपमान का लोप कहाँ ? आप व्यंग्योपमा का उदाहरण देते है—

निज विलास, रसमाधुरी, लखि न जलज इतराय,
सरस मधुर विकसित वदन लसत न फस इतआय।

यहाँ व्याग्योपमा क्या साधारण उपमा का भी नामोनिशान नहीं। यह तो 'प्रतीप' अलकार का स्पष्ट उदाहरण है। कहाँ तक लिखा जाय। यह तो केवल पीयूष के प्रथमखड के कुछ पृष्ठो की विहगम दृष्टि मे की हुई आलोचना है।

श्री रसालजी ने हमारे काव्यकल्पद्रुम द्वितीय भाग वि० स० १९९३ के तृतीय सस्करण से पर्याप्त अपहरण किया है, यहाँ तक कि पीयूष का प्राय' एक भी प्रकरण ऐसा नहीं, जिसके अनेक पृष्ठों में काव्यकल्पद्रुम का गद्य या पद्य न उडाया गया हो—दस पॉच पद्यों के नीचे का क ऐसा चिन्ह लगा कर अन्य अपहृत सब सामग्री को आपने निजी सम्पत्ति बनाली है। फिर भी आप उससे कुछ लाभ नहीं उठा सके, क्योंकि एक तो विषय को समझ ही नहीं सके फिर आप अपनी अपहरण लीला को छिपाने के लिए बिना ही कुछ समझे शब्द परिवर्तन कर डाले, परिणाम यह हुआ कि अर्थ का अनर्थ हो गया।

सुविज्ञ पाठक महोदय, सस्कृत के महान् साहित्यकारो ने भी यह कहकर कि "के पोतयन्त्ररहिता जलधौ तरन्ति।" अर्थात् बडे बडे जहाजों क बिना समुद्र उत्तीर्ण कौन कर सकता है–साहित्याम्बुधि को उत्तीर्ण के लिए दृढ पोतयन्त्रों (जहाजो) की आवश्यकता स्वीकार की है। परन्तु हमारे रसालजी ने तो किसी पोतयंत्र की सहायता के बिना ही "अम्भोभिमेकचुलकेनपपावगस्त्यः।" अगस्त्यजी की तरह साहित्य समुद्र को पार करना ही नहीं, एक चुलक में पी जाना भी एक खेल तमाशा ही समझ लिया। श्री रसालजी जैसे एम ए के विद्वान के ग्रन्थो की आलोचना करने की इच्छा न होने पर भी हमको विवशतया इस अवाञ्छनीय कार्य में अगत्या प्रवृत्ति होना पड़ा है, कहा है–

'वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्य, दोषाकरे वरतुनि मौनता चेत् [1]।"

[1] दोषों से परिपूर्ण ग्रन्थ के विषय में मौन रहने में विद्वानो को काटे के समान असह्य वेदना होती है।

'दीनजी' की अलंकारमंजूषा[१]

प्रोफेसर भगवानदीनजी, हैं जिसके लेखक विद्वान्,
'मंजूषा' को मिलै न क्यों फिर भला पाठ्य-ग्रंथों में स्थान।
समालोचना करना उसकी यद्यपि हमको था न अभीष्ट,
किंतु मौन रहने से समझा छात्रजनों का महा अनिष्ट।

'अलङ्कारमंजूषा' काशीविश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी "दीन" ने लिखी है। हिन्दी में अलङ्कार विषय के अनेक ग्रंथ होते हुये भी लालाजी ने इस मंजूषा की रचना करने का कष्ट क्यों किया, इसके लिये आपने मंजूषा के प्रारम्भिक वक्तव्य में मंजूषा की अनेक विशेषताएँ बतलाई हैं।

लालाजी द्वारा उल्लिखित विशेषताओं के अतिरिक्त और भी बहुत सी विशेषताएँ 'अलङ्कारमंजूषा' में हैं, और वे वास्तव में अपूर्व हैं। लालाजी जैसे सुप्रसिद्ध एवं हिन्दी संसार में सुप्रतिष्ठित विद्वान् के ग्रन्थ की आलोचना लिखने की हमारी इच्छा न थी, पर 'मंजूषा' पंजाब की प्रभाकर आदि पाठ्य पुस्तकों में निर्वाचित होने के कारण इसके द्वारा साहित्य के विद्यार्थियों के लिये दुष्परिणाम होना अनिवार्य समझकर इस कार्य में अगत्या प्रवृत होना पड़ता है।

लालाजी ने मंजूषा की विशेषताओं में एक विशेषता अलङ्कारों की परिभाषाएँ चुनचुनकर अत्यन्त स्पष्ट और सरल समझाना बताया है। आपने सभी अलङ्कारों में व्याप्त रहने वाला अलङ्कारों का सामान्य लक्षण निम्नलिखित बतलाया है—

"किसी वाक्य के वर्णन करने का चमत्कारिक ढंग अलङ्कार

१. इस निबंध का कुछ अंश माधुरी पत्रिका में हमने 'भूदेव' शर्मा के नाम से निकलवाया था।

कहलाता है। दूसरे शब्दों में यों कहिये, कि जिस सामग्री से किसी वाक्य में रोचकता आजाय, वह सामग्री अलङ्कार है।"

देखिये। लालाजी ने कैसा सरल लक्षण बतलाया है। आपने "दूसरे शब्दों में यों कहिये कि" इसके आगे के वाक्यों में उसे और भी सरल कर दिया है। किन्तु साहित्यग्रन्थों में तो गुण, अलङ्कार और रीति इन तीनों को काव्य में चमत्कारक—रोचकता लाने वाले बतलाये गये हैं—

"उत्कर्षहेतवस्तेस्यु, गुणालंकाररीतयः।"

—साहित्यदर्पण

यदि रोचकता लाने वाली सभी सामग्री को अलङ्कार ही मान लिया जायगा तो गुण, और रीति ही नहीं, रस प्रधान ध्वनि-काव्य, जिसे काव्य में सर्वोपरि पदार्थ माना गया है, उसकी गणना भी अलङ्कारों में ही किया जाना अनिवार्य होगा। किन्तु काव्यप्रकाश आदि साहित्य के मुख्य ग्रंथों में तो अलङ्कार को तीसरी श्रेणी का काव्य माना गया है।

लालाजी ने मजूपा में एक विशेषता यह बतलाई है —"प्राचीन ग्रंथों से चुनकर उदाहरण रखना और सूचना एवं टिप्पणियों द्वारा अलंकारों की बारीकियाँ दिखलाना।" अच्छा लालाजी द्वारा दिखाये गये अलङ्कारों के उदाहरण और उनकी बारीकियों के दिग्दर्शन भी करिये। लालाजी ने ग्रन्थारम्भ में ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

"(१) शब्दालङ्कार—जहाँ शब्दों में चमत्कार पाया जाय, वहाँ शब्दालङ्कार कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उन शब्दों को बदल कर उनके स्थान में उनके पर्याय शब्द रख दिये जायँ तो वह चमत्कार न रहेगा।"

"(२) जहाँ अर्थ में चमत्कार पाया जाय, वहाँ अर्थालंकार माना जाता है। इसका तात्पर्य यह कि' 'यह अलंकार अर्थ पर निर्भर रहता है, इसलिये इसके शब्द पर्यायवाची शब्दों में बदल दिये जा सकते हैं।" —अलंकारमजूषा नवम संस्करण पृ० १, २

आगे चलकर यही बात आपने श्लेष अलंकार के विषय में शब्द और अर्थ-श्लेष के विश्लेषण में भी (पृ० ४६ में) कही है।

अब हम लालाजी के दिखलाए हुए अर्थ-श्लेष के उदाहरण दिखलाते हैं। अर्थ-श्लेष के उदाहरण में आपने निम्नलिखित पद्य लिखा है—

"यः पूतनामारणलब्धकीर्तिः काकोदरोयेन विनीतदर्पः
यशोदयालंकृतमूर्तिरव्यात्पतिर्यदूनामथवा रघूणां।"

इस संस्कृत पद्य में भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों का श्लिष्ट शब्दों द्वारा वर्णन है। इस में 'पूतनामारणलब्धकीर्तिः' और 'काकोदर' शब्द श्लिष्ट हैं, यानी इनके दो दो अर्थ हैं, एक अर्थ, भगवान् श्रीरामविषयक और दूसरा अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण विषयक है।[1]

इन श्लिष्ट शब्दों में किसी एक के स्थान पर इसी अर्थ वाला दूसरा शब्द बदल देने पर श्रीराम और श्रीकृष्ण विषयक दोनों अर्थ नहीं हो सकते हैं। यह शब्द के भंग होने के चमत्कार पर ही निर्भर है। सभंग श्लेष कभी अर्थ-श्लेष नहीं हो सकता है। अतः यह शब्द-श्लेष का उदाहरण है, नकिअर्थ-श्लेष का। दूसरा उदाहरण लालाजी ने अर्थश्लेष का यह दिया है—

"नाहीं नाहीं करै थोरो मांगे बहु देन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार हैं,
जाको मुख देखें भली प्रापति की घटी होत,
सदा सुभजनमन भाये निरधार है।
भोगी ह्वै रहत बिलसतअवनी के मध्य,
कनकन जोरै दान पाठ परवार है।

१ श्रीराम पक्ष में यह अर्थ है कि जिन ने रण में कीर्ति प्राप्त की है, पवित्र नाम है, काकोदर—जो इन्द्र का पुत्र जयंत था, उसका गर्व दूर करने वाले हैं, यश और दया से सुशोभित हैं। श्रीकृष्ण के पक्ष में यह अर्थ है—जिन्होंने पूतना राक्षसी को मारकर कीर्ति प्राप्त की है। काकोदर—कालीय सर्प का दर्प दूर किया है, और जो श्रीयशोदाजी द्वारा अलंकृत किये गये हैं।

"सेनापति" बैननि की रचना विचारो जामैं,
दाता अरु सूम दोनों कीन्हें इकसार है।"

इस छंद में 'पट' आदि शब्दों के, जिनके नीचे रेखा दी गई है, स्थान पर इसी अर्थ वाले "वस्त्र" "दरवाजा" आदि दूसरे शब्द बदल दिये जायँ तो क्या दाता और सूम दोनों के अर्थ निकल सकते हैं? कदापि नहीं।" लालाजी ने जब कि स्वयं अर्थश्लेष की व्याख्या में यह कहा है कि—अर्थालंकार वहीं होता है, जहां शब्द बदल देने पर भी उसी अलंकार का चमत्कार रहता है। ये दोनों उदाहरण आपने हमारे अलंकारप्रकाश या काव्यकल्पद्रुम से लिये हैं और वहां ये शब्द-श्लेष के उदाहरण में ही लिखे गये हैं। क्योंकि इनके रेखांकित शब्द बदल देने पर श्लेष नहीं रहता। लालाजी ने यहभी कहा है—

"श्लेष के दो भेद होते है—(१) जहाँ कवि का तात्पर्य एक ही अर्थ मे होता है, उसकी गणना शब्दालंकारों में होती है। (२) जहाँ कवि का तात्पर्य दोनों या तीनों अर्थों में होता है, उसकी गणना अर्थालंकार में होती है।"

शब्द-श्लेष और अर्थश्लेष का यह विश्लेषण अवश्य ही लालाजी के अलंकार मर्मज्ञ होने का पर्याप्त परिचायक है। अवश्य ही यह आपका नवीन आविष्कार है। पर खेद यह है कि ऐसा लिखते समय आपने यह भी नहीं सोचा कि जब एक ही अर्थ में कवि का तात्पर्य होगा, तब वहाँ श्लेष अलंकार की स्थिति ही कहाँ रहेगी, क्योंकि श्लेष अलंकार तो वहीं होता है जहाँ श्लिष्ट (दो अर्थ वाले) शब्दों या पदों के प्रयोग द्वारा अनेक अर्थ कहे जाते हैं। कहा है—

"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधानेश्लेष उच्यते।"

—साहित्यदर्पण परिच्छेद १०

इससे भी बढ कर आश्चर्य तो यह है, कि आप जब यह कहते हैं, कि श्लेष में सभी अर्थ प्रस्तुत होते हैं। ऐसा कहना भी बडा भयंकर प्रमाद है, क्योंकि श्लेष में सभी अर्थ प्रस्तुत, सभी अर्थ अप्रस्तुत और

एक अर्थ प्रस्तुत और अन्य अर्थ अप्रस्तुत भी होता है[1]। श्लेष अलंकार के विषय में स्पष्ट विदित होता है कि लालाजी श्लेष अलंकार के विषय को सर्वथा ही नहीं समझ सके हैं।

साहित्यदर्पण में 'भाषासम' नामका एक अलंकार लिखा है, जिसका लक्षण वहाँ यह लिखा है—

"शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि,
वाक्यं यत्र भवेत् सोयं भाषासमइतीष्यते।"

अर्थात् जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो, जिनकी वाक्य (शब्द) रचना अनेक भाषाओं में वही हो और वही अर्थ हो। इसका उदाहरण साहित्यदर्पण में यह दिखाया गया है—

मंजुलमणिमंजीरे कलगंभीरे विहारसरसीनीरे,
विहरसि केलि कीरे धीरे च गंधसारसमीरे।

इस पद्य के प्रत्येक शब्द संस्कृत, सौरसेनी, आवंती और अपभ्रंश आदि भाषाओं में इसी प्रकार से प्रयुक्त होते हैं एवं बोले जाते हैं और ये सब शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। लालाजी ने इस 'भाषासम' अलंकार का 'भाषासमक' नाम रख के इसका लक्षण—

शब्दन की विधि एक जहं भाषा विविध प्रकार,
वाक्य मनोहर होय जहं भाषा समक विचार।

यह लिखकर इसके निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—

जा दिन से जमुनातट वाहि बजावत बाँसुरी नेक निहारौ,
हो सम रफ्तनमांद बदस्त भरोस रहै दिनरात तुम्हारौ।
हाफिज फिक्र कुदाम नुमायम कोई उपाय चलै न हमारौ,
हे सखि, कोउ उपाय रचौ फिरि बारक देखिये नन्ददुलारौ।

इसमें प्रयुक्त फारसी के शब्द क्या इसी प्रकार हिन्दी में प्रयुक्त किये जाते हैं? और क्या फारसी और हिन्दी में इन शब्दों का एक ही अर्थ हो सकता है? और देखिये—

---

१. इनके उदाहरण हमने अपने ग्रन्थ 'काव्यकल्पद्रुम' में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर दिखाये हैं।

दृष्टु तत्र विचिरता सुमनश मे था गया बाग में,
काचित्तत्र कुरगशावनयनी गुल तोड़ती थी खड़ी।
उन्नद् भ्रूधनुपाकटाक्षविशिखै' घायल किया था मुझे,
तत्खीदार सुदैव मोहजलधौ हैदर गुजारे शुकर।

इस पद में भी वही आपत्ति है।

'भापासम' अलकार का जो लक्षण साहित्यदर्पण में लिखा है न तो उसका अर्थ ही दीनजी समझ सके न उदाहरण ही समझ सके।

'भापासम' अलकार के उदाहरण तो वे ही हो सकते हैं जिनकी ऐसे शब्दों में रचना की गई हो, जिनका एक ही रूप में भिन्न भिन्न भापाओं में एक ही अर्थ हो, जैसा कि उपर्युक्त साहित्यदर्पण के उदाहरण में प्रयुक्त शब्दों का है। खेद है कि दीनजी ने केवल भिन्न-भिन्न भापाओं के शब्द एक छन्द में रख देने मात्र में ही 'भापासम' अलंकार समझ लिया है, अस्तु। छेकानुप्रास का लक्षण दीनजी ने यह लिखा है—

वर्न अनेक कि एक की आवृत्ति एकै वार,
सो छेकानुप्रास है आदि अन्त निरधार।

अर्थात् आपने एक वर्ण की एक बार आवृत्ति में भी छेकानुप्रास मान लिया है। किन्तु एक वर्ण की आवृत्ति में वृत्यनुप्रास होता है न कि छेकानुप्रास। कहा है—

"अनेकस्मिन्निति वचनाच्च असकृदेवविघरूपोपनिबन्धनो छेकानुप्रास. न तु सकृदिति।"

—उद्भटाचार्य का काव्यालकारसारसग्रह।

छेकानुप्रास का दीनजी ने एक यह भी उदाहरण दिया है—

बाधे द्वार का करी[1] चतुर चित्त काक[2] री,
सो उम्मिर वृथा करी न राम की कथा करी।
पाप को पिनाकरी[3] न जाने नाक[4] नाकरी[5],
सुहागिल[6] की नाकरी[7], निरन्तर ही नाकरी।

[1]—हाथी। [2]—कौवे के समान। [3]—पुराना धनुप। [4]—इज्जत। [5]—स्वर्ग। [6]—एक पक्षी जो अपने चगुल में लकड़ी लिए रहता है। [7]—लक्कड़ी।

ऐसी सूमता करी, न कोऊ समता करी,
सु 'वेनी कविता करी, प्रकाश तासु ताकरी[8]।
देव-अरचा[9] करो न ज्ञान चरचा करी[10],
न दान पै दया करी न बाप की गया करी।

इसमें काकरी, थाकरी, नाकरी, ताकरी, चाकरी शब्दों के प्रयोग द्वारा यमक अलंकार का उदाहरण हो सकता है। दीनजी ने इसे छेकानुप्रास के उदाहरण में लिखकर बड़ा प्रमाद किया है।

लालाजी ने मंजूषा में एक विशेषता—अन्य आचार्यों से मत-भेद दिखाना भी बतलाया है। आप कहते हैं—

"अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति अलकार को अर्थालङ्कार माना है। हम इसे शब्दालंकार मानते हैं।"

लालाजी चाहे सो मान सकते हैं। हाँ आचार्यों ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार भी माना है। पर प्रश्न यह है कि किस आचार्य ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार नहीं माना है? उद्भट, रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ आदि सुप्रसिद्ध आचार्यों ने वक्रोक्ति को मुख्यतया शब्दालङ्कार ही माना है। श्री मम्मटाचार्य ने तो शब्दालंकारों में सर्व प्रथम वक्रोक्ति का ही उल्लेख किया है। यही नहीं, जिस हमारे अलङ्कारप्रकाश से आपने अनेक पदार्थों का अपहरण किया है और वक्रोक्ति के उदाहरण वहीं से झपटे हैं, उसमें भी वक्रोक्ति का शब्दालंकारों में ही सबसे प्रथम निरूपण किया है। मंजूषा में वक्रोक्ति के सभी उदाहरण दूषित हैं—

कह कपि धर्मशीलता तोरी, हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी।

इत्यादि रामचरित मानस के जो उदाहरण दिये हैं उनमें वक्रोक्ति की गंध भी नहीं है, क्योंकि इनमें अंगद की रावण के प्रति परिहासात्मक उक्ति है। वक्रोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ अन्य की उक्ति का अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाता है। जहाँ वक्ता की स्वयं उक्ति में काकु उक्ति होती है वहाँ काकाक्षिप्त गुणी भूत व्यंग्य होता है। जैसे—

मैं सुकुमार नाथ बन जोगू, तुमहि उचित तप मोकह भोगू।

८—ताको, देखो। ९—पूजा। १०—गया में पितृ श्राद्ध करना।

पर लालाजी ने इसको भी वक्रोक्ति के उदाहरण में ही दिया है। अब दीनजी द्वारा निरूपित अर्थालंकारों के भी कुछ नमूने देखिये उल्लेख अलंकार का आपने यह उदाहरण दिया है—

सारमाला सत्य की विचार माला वेदन की,
भारी भाग माला है भागीरथ नरेश की।
तप माला जन्हु की सुजपमाला जोगिन की,
आछी आप माला है अनादि ब्रह्मवेश की।
कहै 'पदमाकर' प्रमान माला पुन्यन की,
गंगाजू की धारा मान माला है धनेस की।
ज्ञानमाला गुरु की गुमान माला ज्ञानिन की,
ध्यानमाला ध्रुव मौलिमाला है महेस की।

किन्तु यह उदाहरण उल्लेख का नहीं, यह तो 'मालारूपक' का स्पष्ट उदाहरण है। इसमें उपमेय गंगाजी में "सत्य की सारमाला" आदि अनेक उपमानों का आरोप किया गया है।

स्मरण और भ्रान्तिमान एवं सन्देह इन तीनों अलंकारों के लक्षण बहुत ही सरल हे। दीनजी ने स्मरण अलंकार का लक्षण—

"कछु लखि, कछु सुनि सोचि कछु सुधि आवै कछु भाव,
सुमिरन ताको भाखिए बुधवर सहित उलाव।"

यह लिख कर आपने प्राचीनाचार्यों की आलोचना की है, आपका कहना है कि—'प्राचीनाचार्यों ने इस अलंकार को केवल सदृश वस्तु के देखने पर स्मृति हो आने में ही माना है। पर यह लक्षण पर्याप्त नहीं, केवल सदृश वस्तु को देखने पर ही यह अलंकार क्यों माना जाय। फिर आपने स्मरण के—

"सघन कुन्ज छाया सुखद सीतल मंद समीर,
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।"

तथा—"सूल होत नवनीत निहारी मोहन के मुख जोग विचारी।"
तथा—जागिपरी तो न राह कहूँ न कंदब को छाँह नहीं जमुना तट।

इत्यादि उदाहरण दिखाये हैं। किन्तु इन उदाहरणों में स्मरण अलंकार नहीं, क्योंकि इनमें सदृश वस्तु के देखने पर तादृश वस्तु का स्मरण नहीं, किन्तु केवल स्मरण (स्मृति) है। किन्तु जहाँ सदृश वस्तु

के देखे बिना केवल स्मृति होती है, वहाँ स्मृति-संचारी होता है न कि स्मरण अलंकार इससे दीनजी की कूपमण्डूकता का पर्याप्त परिचय मिलता है। दीनजी का लिखा हुआ सन्देह अलंकार का उदाहरण भी देखिये—

की तुम तीन देव में कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ।
की तुम हरिदासन मँह कोई, मोरे हृदय प्रीति अति होई।

खेद है, कि इसमें सन्देह अलंकार नहीं। यदि ऐसे उदाहरणों में ही सन्देह अलंकार मान लिया जायगा तो इस अलंकार का कुछ अस्तित्व ही न रहेगा। सन्देह अलंकार वहीं होता है, जहाँ सादृश्य-मूलक चमत्कारात्मक सन्देह किया जाता है।

छेकापन्हुति का दीनजी ने यह उदाहरण लिखा है—

कछु न परीच्छा लीन्हि गोसांई, कीन्ह प्रणाम तुम्हारिहि नाईं।

किन्तु छेकापन्हुति का उदाहरण यह नहीं हो सकता। छेकापन्हुति वहीं होती है, जहाँ अपने कहे हुए गुप्त रहस्य के प्रकट हो जाने पर मिथ्या समाधान द्वारा उसे छिपाया जाता है। यहाँ तो पार्वतीजी का केवल मिथ्यालाप-मात्र है। यदि ऐसे उदाहरणों में ही अलंकार मान लिये जायँ तो साहित्य शास्त्र के अध्ययन में कष्ट उठाने की आवश्यकता ही क्या है ?

सम्बन्धातिशयोक्ति का दीनजी ने यह उदाहरण लिखा है—

कानन कुँज प्रमोद बितान भरे फल फूल सुगंध बिछानै।
बावली के अरबिंदन पै मकरंद मलिंद सने सुभ गानै॥
त्यौं 'लछिराम' तरंगन तें सरजू के कढ़े सुर साजि विमानै।
औधपुरी महिमा यौं चितै अमरावतिको हम क्यों सनमानै॥

इस पद्य में 'सम्बन्धातिशयोक्ति' नहीं, किन्तु 'प्रतीप' अलंकार प्रधान है क्योंकि उपमेय-अवधपुरी की अपेक्षा उपमान-अमरावती का निरादर किया गया है। अतः इसमें प्रतीप ही प्रधान है।

दीनजी की अलंकारमंजूषा का तीसरी तुल्ययोगिता का उदाहरण देखिये—

तुम निधि, बुध, विधु विविधपति विधुधर बुद्धि निधान।
तुमहि भूप हो कलपतरु, गुननिधि चतुर सुजान॥

यहाँ राजा में बुध इत्यादि का आरोप किया जाने से 'रूपक' है, न कि 'तुल्ययोगिता'।

अलकारमजूषा में प्रथम निदर्शना का उदाहरण निम्न लिखित है—

जो सुभ बानी बसै विधि सग सदा सिव अंग लसै सुभवानी,
जो कमला कमलापति के संग 'देव' सचीस सची सुखदानी
दीप-सिखा व्रज-मदिर सुन्दर जागति जोति सबै जग जानी
साधु की साधिका सिद्ध समाधिका सो व्रजराज की राधिकारानी

इसमें उपमेय-श्रीराधिका में उपमान-सरस्वती, भवानी आदि का आरोप किया गया है अत इसमें रूपक अलंकार है। निदर्शना वहीं होती है जहाँ कर्ताओंका अभेद शब्द द्वारा कहा जाता है और क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा न कहा जाकर अर्थ द्वारा ज्ञात होता है। यहाँ तो क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा कहा गया है। अतः 'रूपक' है।

समासोक्ति का मजूषा में यह उदाहरण है—

लोचनमगु रामहि उर आनी, दीन्हे पलक-कपाट सयानी।

इसकी व्याख्या में आपने कहा है—'इसमें कवि इच्छित अर्थ के अलावा यह भी भासित होता है कि किसी चचल व्यक्ति को बंधुआ बनाने के व्यवहार में किवाड़ों को बन्द कर देना होता है।' धन्य दीनजी धन्य। समासोक्ति में कवि इच्छित ही दोनों अर्थ होते हैं। आपको किसने बहका दिया कि कवि इच्छित अर्थ के अलावा दूसरा अर्थ भी समासोक्ति में होना चाहिये। यदि ऐसे वर्णनों में ही समासोक्ति मानली जायगी तो समासोक्ति अलंकार बहुत ही सस्ता हो जायगा। आपको यह ज्ञात नहीं कि समासोक्ति का विषय बड़ा गम्भीर है।

कहाँ तक लिखा जाय, 'अलकारमजूषा' में एक से एक बढ कर विकृत अलंकार भरे हुए हैं। यह तो दिग्दर्शन मात्र है। खेद है

कि 'दीनजी' ने इस पुस्तक को लिखते समय अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप उत्तरदायित्व पर कुछ भी ध्यान न दिया। 'दीनजी' काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रोफेसर एवं हिन्दी के सुलेखक रूप में प्रसिद्धि प्राप्त थे। अतः हिन्दी के विद्वानों द्वारा तो उनके इसी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही मंजूषा को हिन्दी की प्रभाकर आदि परीक्षा के ग्रन्थों में निर्वाचित करली गई। किन्तु खेद तो यह है कि ऐसी भ्रष्ट पुस्तक का कुछ भी निरीक्षण न करके केवल भेड़िया-धसान के अनुसार अब संस्कृत के विद्वान् निर्वाचकों ने भी संस्कृत के छात्रों के लिए इसका पाठ्य ग्रन्थों में समावेश कर लिया है— 'किमाश्चर्यमतःपरम्'। इसका परिणाम यह होगा कि मंजूषा को अनधिकार पूर्वक लिखने का अपराध तो लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने किया है और इसका कुफल बेचारे छात्रों को भोगना पड़ेगा। श्रीरामचरितमानस की—

अउर करइ अपराध कोउ, अउर पाव फल भोग।

यह उक्ति प्रत्यक्ष चरितार्थ हो रही है।

काव्यप्रभाकर

(आलोचना)

(१)

"अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेभिमानम् ।
ते गारुडीयाननधीत्यमन्त्रान् हालाहलास्वादनमारभन्ते ।"

—महाकवि मखक ।

भावार्थ—

काव्य रहस के ज्ञान बिनु करहिं काव्य निरमान,
विष-हर-मंत्र न जानि वे करहिं हलाहल पान ।

'काव्यप्रभाकर' के प्रणेता बाबू जगन्नाथप्रसाद जी 'भानु' हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। जिस समय हमने यह आलोचना लिखी थी, उस समय 'काव्यप्रभाकर' हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य की उत्तमा परीक्षा के पाठ्य ग्रन्थों में निर्वाचित था। यह ग्रन्थ बड़े आकार के ८०० से भी अधिक पृष्ठों का है। खेद है कि बाबू साहिब ने ध्वनि और अलंकार जैसे गम्भीर विषयों पर लिखने के पूर्व यह भी विचार नहीं किया कि जिस विषय को वे लिख रहे हैं, उसमें उनका कहाँ तक 'काव्यज्ञशिक्षाभ्यास' है। काव्य-विषय अत्यन्त गम्भीर होने के कारण विवादास्पद अवश्य है। पर आलोच्य ग्रन्थ के लिये विवाद ग्रस्त गम्भीर सिद्धान्तों तक जाने की आवश्यकता नहीं। इसके लिये तो साधारण और निर्विवाद साहित्य विषयों की कसौटी ही पर्याप्त है। संस्कृत के जिन काव्यप्रकाशादि साहित्य ग्रन्थों को 'भानुजी' ने इस ग्रन्थ के आधारस्तम्भ लिखा है, उन ग्रन्थों का नाम-निर्देश केवल ग्रन्थ का मिथ्या गौरव बढ़ाने के लिये ही किया है। वास्तव में तो आप हिन्दी भाषा के ग्रन्थों के अभिप्राय भी सर्वथा नहीं समझ सके हैं।

'काव्यप्रभाकर' के प्रथम मयूख में छन्द विषय आपही के 'छन्दप्रभाकर' का पिष्टपेषण मात्र है। द्वितीय मयूख के आरम्भ होते ही भानुजी के प्रखर प्रताप से प्रदीप्त प्रभाकर की प्रचण्ड प्रभा का

साहित्य विषयों पर प्रपात होने लगता है। विस्तार भय से यहाँ हम बहुत ही संक्षिप्त रूप में दिग्दर्शन मात्र कराते हैं।

'अभिधा' की स्पष्टता में 'संयोग' आदि अभिधा नियंत्रण के अप्रासङ्गिक भेद आपने 'दासजी' के काव्यनिर्णय के पद्यों को (शब्द परिवर्तन करके) लिखे हैं। इस परिवर्तन के चक्र में आप बड़ी बुरी तरह फँस गये हैं। अर्थ का अनर्थ कर दिया है।

लक्षणा प्रकरण में लक्षणा के भेदों में आपने (१) रूढ़ि, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़ि, इन तीन भेदों का नवीन आविष्कार किया है। किंतु ये अभिधा के शब्द भेद हैं नकि लक्षणा के। आर्थी—व्यञ्जना के प्रकरण में आपने अविकल रूप में काव्य-निर्णय का अन्धानुसरण किया है। काव्यनिर्णय के अभिधा-मूलक व्यंग्य के—

शब्द अनेकारथ के बलहि होई दूसरो अर्थ,
अभिधा मूलक व्यंग तिहिं भाषत सुकवि समर्थ।'

इस लक्षण की व्याख्या आपने की है—'जिस शब्द के अनेकार्थ बल से कोई अर्थ निकले।' सम्भवतः आपको यह परिज्ञात नहीं है कि अनेकार्थी शब्दों द्वारा ही श्लेष अलंकार होता है। अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग में व्यंग्य किस अवस्था में होता है, यही तो समझने की बात है। यह सत्य है कि 'दासजी' ने अपूर्ण लक्षण लिखा है, किन्तु भानुजी ने तो अपनी व्याख्या में उस अपूर्ण लक्षण को और भी अधिक दूषित कर दिया है। अनेकार्थी शब्दों के जब अन्य-अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) संयोग आदि कारणों से रुक जाते हैं, उस अवस्था में जब कविप्रतिभा-जन्य किसी अर्थ की प्रतीति होती है, वहीं अभिधा-मूलक व्यंग्य होता है। भानुजी की ध्वनि विषयक विवेचना भी दर्शनीय है—

"होत लक्षणा-मूल जहँ गूढ़ व्यंग ध्वनि मांहि।"

आपने इसकी व्याख्या की है—"लक्षणा-मूल-व्यंग्य को ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य कहते हैं। यथा,—'नीक दीन्हि हरि सुन्दर ताई—यहाँ अनेकार्थ से 'हरि' का अर्थ 'कपि' है। अतएव व्यञ्जित हुआ कि कपि की आकृति थी, अतः उत्तम काव्य है (पृ० ११६)।

यहाँ न तो 'हरि' शब्द का अर्थ कपि हो सकता है और न लक्षणा मूला ध्वनि में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग ही होता है। आपने लक्षणामूला ध्वनि के अविवक्षित वाच्य और विवक्षित वाच्य दो भेद समझ लिये हैं। पर विवक्षित वाक्य का अर्थ है वाच्यार्थ की विवित्ता अर्थात् वाच्यार्थ का उपयोगी होना, पर लक्षणामूला ध्वनि में वाच्यार्थ अनुपयोगी होता है। अत लक्षणामूला ध्वनि का विवक्षित वाच्य भेद नहीं हो सकता है। जिस विवक्षित-वाच्य ध्वनि को आपने लक्षणा मूलक बताई है, वह तो अभिधामूला ध्वनि होती है।

"भानुजी" का "अविवक्षितवाच्य ध्वनि" का लक्षण और उदाहरण भी देखिये—

'वक्ता की इच्छा नहीं बचनहि को जु सुभाय,
व्यंग्य कढै तिहिं वाक्य ते अविवक्षित ठहराय।'

यह दोहा 'दासजी' का है। इसकी व्याख्या भानुजी ने यह की है कि—'वक्ता की इच्छा न होते हुए, स्वाभाविक वचन से ही व्यंग्य निकले।' खेद, अविवक्षित का अर्थ जब काव्यनिर्णय के प्रणेता भिखारी-दासजी ही नहीं समझे, तब बेचारे भानुजी क्या समझ सकते थे। 'अविवक्षित-वाच्य' का अर्थ है वाच्यार्थ का सर्वथा छोड़ा जाना, या वाच्यार्थ का अन्य अर्थ में सक्रमण हो जाना (बदल जाना) अथवा वाच्यार्थ का अनुपयोगी होना। भानुजी ने इस ध्वनि का उदाहरण यह दिया है—

'सब सेवक गन गरहि गलाना'—श्रीरामचरितमानस

इसकी व्याख्या में आप कहते हैं—"इस वाक्य के प्रसग में भरतजी ने सेवकों से कहा नहीं कि तुम लोग जूते उतार डालो, परन्तु उनकी क्रिया मात्र से सब सेवकों पर आप ही प्रभाव पड़ गया।" भानुजी ने इस व्याख्या में यह ध्वनि निकाली है कि सेवकों ने जूते उतार डाले। किन्तु धन्य हैं भानुजी, ऐसी विलक्षण व्याख्या आप ही कर सकते हैं। आप यही नहीं समझे कि इस ध्वनि का क्या स्वरूप है?

"अर्थान्तरसक्रमित ध्वनि' के आपने लक्षण और उदाहरण ये लिखे हैं—"जिस ध्वनि में वाच्यार्थ अर्थान्तर द्वारा भासित

होता है, यथा—'चरण पीठ करुनानिधान के, जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के'। यहाँ चरणपीठ का अर्थ खड़ाऊँ न लेकर प्रजा के प्राणों के दो पहरुए माने गये।"

अवश्य ही 'पहरू माने गए' हैं। किन्तु इसमें "अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि" की गंध भानुजी को कहाँ से आ गई? यहाँ 'जनु' पद के होते हुए भी भानुजी उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं समझ सके। भावाभास के उदाहरण में—

हृदय विचारहिं बारहि बारा, कवन भाँति लंकापति मारा।

इसकी आपने यह व्याख्या की है—'यह अनुचित चिंताभास है क्योंकि रावण तो मर ही चुका था, अवश्य ही रावण मर चुका था। पर यहाँ रावण के मरने की चिन्ता का प्रसङ्ग ही कहाँ है। यह तो कौशल्याजी के हृदय में उद्भूत मातृ-वात्सल्य भाव है। अतः यहाँ भावाभास तो नहीं, हाँ भानुजी की साहित्य-मार्मिकता के अभाव का आभास अवश्य है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि की स्पष्टता में आप कहते हैं—"जहाँ व्यंग्य समझने के हेतु किसी और पद की सहायता हो," (पृ० ११८)।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य को भी आप सर्वथा ही नहीं समझे। संलक्ष्यक्रम ध्वनि तो वहां होती है जहाँ वाच्यार्थ के पश्चात् अनुस्वान या अनुरणन रूप 'व्यंग्य' होता है। जैसे, घड़ायल बजने पर उसके अनन्तर कुछ समय तक निरन्तर एक ध्वनि निकला करती है। इसमें किसी और पद की सहायता नहीं होती।

इसी ध्वनि के एक भेद 'वस्तु से वस्तु व्यंग्य' का आपने यह उदाहरण दिया है—"गुरु विवेक सागर जगजाना, जिनहिं विश्व कर बदरिसमाना।' और इसकी व्याख्या में लिखा है—"यहाँ गुरु-विवेक-सागर का जानना एक वस्तु है और विश्व का बदरि समान भासित होना दूसरी वस्तु है। परन्तु इसमें जो गुरु की बड़ाई सूचित होती है सोई व्यंग्य है। व्याख्या में आपने जिन दो वस्तुओं का उल्लेख किया है वे दोनों तो, वाच्यार्थ ही हैं और उन दोनों को आप वाच्यार्थ ही में समाप्त करते हैं। आप जो गुरु की बड़ाई रूप व्यंग्य बतलाया

है वह व्यग्य कहाँ है और न वह किसी और पद की सहायता से ही निकलता है। उक्त ध्वनि के अर्थशक्ति स्वत सभवीव्यग्य की स्पष्टता आपने यह की है—"स्वत सभवी जिसे प्रसिद्ध लोकोक्ति भी कहते हैं।"—पृ० ११६

किंतु 'प्रसिद्ध लोकोक्ति' तो लोकोक्ति अलंकार में हुआ करती है। ध्वनि में प्रसिद्ध लोकोक्ति नहिं होती। इसी ध्वनि के अन्तर्गत अलकार से अलकार व्यग्य का आपने यह उदाहरण दिया है—

'देखत भरत विसाल अति, निसिचर मन अनुमानि
बिन फर सायक मारेऊ चाप श्रवन लगि तानि।'

आप कहते हैं—"यहाँ अत्यन्त विशालता देखकर निशिचर का अनुमान करना 'अनुमान' अलकार है। और बिना फर के बाण मारना दूसरी विभावना है।" उक्त दोनो अलकार वाच्यार्थ में ही आपने समाप्त कर दिये हैं। प्रश्न होता है कि फिर कौनसा अलकार व्यग्य है? भानुजी इस उदाहरण में 'अनुमान' और 'विभावना' अलकार बतलाते हैं। किन्तु यहाँ कोई अलंकार ही नहीं है। वास्तविक वर्णन है।

भानुजी का "वस्तु से अलकार व्यग्य" का और भी अधिक रोचक उदाहरण देखिये—

'तहाँ राम रघुवश मणि सुनिय महा महिपाल
भँजेहु चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल।'

आपका कहना है कि 'यहाँ चाप का भजन करना एक वस्तु है रामजी तथा चाप का प्रतिबिम्ब गज और पकज नाल से वर्णन किया गया, अत. दृष्टान्तालकार है। और प्रयास बिना भजन करना जो वीरत्व की प्रशंसा है, सोई व्यग्य है। अत वस्तु से अलकार व्यग्य हुआ।"

यहां दृष्टान्तालकार का कोई नामोनिशान भी नहीं है। 'जिमि' शब्द स्पष्ट ही उपमा अलकार की घोषणा कर रहा है। फिर एक वस्तु और दृष्टान्त अलकारकी तो आपने वाच्यार्थ में ही कल्पना करली है।

और आप इन किसी में व्यंग्य मानते ही नहीं और न है ही। आप तो वीरत्व की प्रशंसा को व्यंग्य मानते हैं वह प्रशंसा तो वस्तु है फिर वस्तु से अलंकार व्यंग्य का उदाहरण इसे किस प्रकार कह सकते हैं? आपके पदार्थ ज्ञान का एक और भी नमूना देखिये—

'चन्द-किरन-रस-रसिक चकोरी।
रवि-रुख नयन सके किमि जोरी।।'

आप लिखते हैं—"यहाँ चकोरी सीताजी का और रवि रुख रामचन्द्रजी के मुख-मण्डल का प्रतिबिम्ब वर्णन किया गया है अतएव दृष्टान्तालंकार है। इससे सुकुमारता और लज्जा का भाव जो भासित होता है सोई व्यंग्य है।" पृ० ११६। यह भानुजी के प्रखर प्रताप की महिमा है कि ऐसे निगूढ़ अर्थ प्रकाशित हो रहे हैं—

'दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते स्फुटमहो भानुप्रतापोदयात्।'

उक्त उदाहरण का वास्तविक अर्थ तो कुछ और ही है। भगवती जनकनन्दिनीजी का भगवान् श्रीरामचन्द्र के साथ वन गमन का प्रस्ताव सुनकर असह्य वेदनाकुलित मातु श्रीकौशल्या की यह कातरोक्ति है—सर्वदा सुख समाज में रहने वाली सुकुमारी जनकनन्दिनी वनवास के अत्यन्त दुःसह्य दुःखों को किस प्रकार सहन कर सकती है? इस बात को न कह कर इसके प्रतिबिम्ब रूप यह कहा गया है कि—जो चकोरी चन्द्रमा की सुधास्यंदनी कलाओं की अनुरागिणी है, वह प्रखर किरण-माली अंशुमाली—सूर्य के सम्मुख किस प्रकार देखने में समर्थ हो सकती है। अतः यहाँ ललित अलंकार है, न कि दृष्टान्त। यहाँ लज्जा भाव तो नहीं भानुजी के विषय में लज्जा भाव अवश्य भासित होता है। भूगुणत व्यंग्य का एक नमूना देखिये—

'होइ अर्थ संदेह में पै नहीं कोई पुष्ट,
सो संदेहप्रधान है व्यंग कहै कवि तुष्ट।'

भानुजी ने गुणीभूत व्यंग्य का दोषपूर्ण यह लक्षण 'काव्य-निर्णय' से उद्धृत किया है। भानुजी ने इसका यह उदाहरण दिया है—'कै मैनाक कि खगपति होई।'

इस चौपई में वाच्यार्थ संदेहरूप है किन्तु जहाँ वाच्यार्थ में संदेह होता है वहाँ संदेह अलंकार होता है, न कि संदिग्ध प्रधान व्यंग्य। संदिग्ध गुणीभूत व्यंग्य तो वहाँ होता है जहाँ वाच्य अर्थ और व्यंग्य अर्थ दोनों के विषय में यह संदेह रहता है कि यहाँ वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ ?[1]

(२)

'भानु' के प्रतापानल से प्रज्वलित 'प्रभाकर' के द्वितीय मयूख की आलोचना से आकुलित लेखनी को विश्राम देने के अनन्तर आशा का संचार हुआ था कि सम्भवतः अब नवरसों से सिञ्चित और चन्द्रालोक की चन्द्रिका से मिश्रित काव्य-वाटिका में मधुर मलय मारुत की शीतलता उपलब्ध होगी। उस आशा पद्मिनी को—'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार'—भानुजी के पाण्डित्यरूप मदान्ध हस्ती ने आमूल नष्ट कर दिया। द्वितीय मयूख तक 'प्रभाकर' उदय-कालीन ही था, पर अष्टम मयूख तक वह मध्यान्ह कालीन तरुणा-वस्था को प्राप्त हो कर अपनी प्रचण्डता के कारण नव रसों के छोटे बड़े सभी मनोरञ्जक श्रोतों को प्रतप्त धाराओं में परिणत कर दिये हैं।

रसराज शृङ्गार रस आलम्बन विभावों में प्रदर्शित अश्लील दादरों से प्रदग्ध नायिका भेद का करुण-क्रन्दन श्रुति गोचर होने पर उनकी चिता धूम की दुर्गन्धित वायु से मस्तिष्क विक्षुब्ध हो जाता है। जब शृङ्गार रस के मनोरमणीय आलम्बनों के दृश्य ही दुःसह प्रतीत होने लगते हैं तो फिर वीभत्स, भयानक और रौद्र के भयावह लम्बायमान ३२५ दृश्य-पट देखने का साहस किस प्रकार हो सकता था। अतएव तापाकुल रस प्रकरण को त्राहि-त्राहि करते हुए ही छोड़ना पड़ता है।

भगवान् भास्कर की ग्रीष्मकालीन रश्मियों की दाहक शक्ति का भी मध्यान्होत्तर क्रमशः ह्रास होने लगता है, पर भानुजी के प्रभा-कर की उत्तरावस्था में भी—नवम मयूख में भी—वही प्रचण्ड दाहक

१ माधुरी पत्रिका वर्ष ७ खण्ड १ पृ० ५४ में मुद्रित लेख का यह परिवर्तित संक्षिप्त रूप है।

शक्ति विद्यमान है। ज्योतिष शास्त्र का सिद्धान्त है कि भगवान् भास्कर के सन्मुख चन्द्रविम्ब आ जाने पर उनकी तीक्ष्णता भूमण्डल से कुछ विलुप्त हो जाती है। उसी प्रकार नवम मयूख में चन्द्रालोक[1] के प्रतिबिम्ब से भानुजी के प्रभाकर की प्रभा कुछ विलीन हो जाने के कारण हम आगे कुछ लिखने में समर्थ हो सके हैं।

जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपने मित्र मेघ को उज्जयिनी की पौरांगनाओं के कटाक्षों का आनन्द लेने के लिए आग्रह किया है—'लोलापाङ्गैः यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोसि' उसी प्रकार सहृदय पाठकों से साग्रह अनुरोध है कि यदि आप भानुजी के अलङ्कार-कुंज से आप अपना मनोरंजन न करेंगे तो उनकी काव्य-मर्मज्ञता के रहस्य से आप वंचित रह जायँगे।

'वक्रोक्ति' के लक्षण में आपने काव्य प्रकाश की—

'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते,
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सावक्रोक्तिस्तथाद्विधा।'

इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार की है—"कहे हुए वाक्य को दूसरे अभिप्राय से दूसरे वाक्य द्वारा (श्लेष से व काकु से) और ही कल्पना करे, उसे वक्रोक्ति कहते हैं। शोक! उक्त कारिका का अर्थ आपने—'दूसरे वाक्य द्वारा' —किया है? संभवतः आपने कारिका के 'अन्येन योज्यते'—का अर्थ न समझकर यह अनर्थ कर डाला है।

'श्लेष' प्रकरण में साहित्यदर्पण का—"श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष उच्यते।" यह लक्षण लिखकर साहित्यदर्पण पर भी आपने अपना अधिकार सिद्ध करने का दुःसाहस किया है। यहाँ भी आपने—'शब्द बिना बदले ही उसी शब्द का एक अर्थ के पश्चात् दूसरा अर्थ निकले"—यह व्याख्या करके साहित्य की हत्या की है। श्लिष्ट शब्द द्वारा एक अर्थ के पश्चात् दूसरा अर्थ 'शब्द शक्ति-उद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि काव्य में निकला करता है,—श्लेष अलङ्कार

१ 'चन्द्रालोक' नाम का जयदेवजी कृत ग्रन्थ।

में तो एक से अधिक सभी अर्थ एक ही साथ वाच्यार्थ में ही होते हैं—न कि एक के पश्चात् दूसरा अर्थ। आपने 'श्लेष' अलङ्कार का उदाहरण—

"की किरपा करतार जामन फल सा आमिला
सेव कदम कचनार पीपर रत्ती तू न तज।"

यह तथा इसी शैली के और भी उदाहरण दिखाये हैं। धन्य है, यह उदाहरण तो मुद्रा अलङ्कार का है, न कि श्लेष का। श्लेष तो यहाँ मुद्रा अलंकार का सहायक मात्र है।

अधिक ताद्रूप्य रूपक का 'विष वारुनी बन्धु प्रिय जेहीं, कहिय रमा सम किमि वैदेही', न्यून-ताद्रूप्य रूपक का 'राम मात्र लघु नाम हमारा, परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा,' और सम ताद्रूप्य रूपक का 'लगन उतर आहुति सरिस, भृगुवर कोप कृसानु' उदाहरण दिया है। भानुजी के इस प्रलाप को 'प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविमर्दः किमु मदः' क्या कहें? इन तीनों ही उदाहरणों में ताद्रूप्य रूपक की गन्ध तक नहीं है। प्रथम उदाहरण में व्यतिरेक, दूसरे में व्याजस्तुति और तीसरे में उपमा या उपमा और सम अभेद रूपक का सकर है। आपने इनको ताद्रूप्य रूपक समझ लिया—'अहो कष्टमहोन्यायम्'।

उत्प्रेक्षा के लक्षण में चन्द्रालोक की कारिका लिखकर, आपने इस प्रकार व्याख्या की है—"उपमेय की उपमान में कल्पना करने को उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहते हैं"। आपका जो गद्यात्मक लक्षण है, वह तो वास्तव में 'प्रतीप' अलङ्कारका लक्षण है, न कि उत्प्रेक्षा का जैसाकि 'प्रतीप' अलङ्कार की व्याख्या में आपने स्वय कहा है कि—"जो प्रसिद्ध उपमान है, उसमें उपमेय की कल्पना करना।" और आपकी, उपर्युक्त उत्प्रेक्षा की व्याख्या भी यही कह रही है। उत्प्रेक्षा का उदाहरण आपने यह दिया है—

'सुपिन गौरि देखी तहँ कैसी, मूरतिवत तपस्या जैसी।'

इसमें 'कैसी जैसी' उपमा वाचक शब्द के होने पर भी आपने इसे उत्प्रेक्षा का उदाहरण समझ लिया है।

अनुक्तास्पदा—उत्प्रेक्षा का—उदाहरण आपने यह दिया है—

'अंजन बरसत गगन यह मानो अथए भानु'

यह भाषाभूषण में दिया हुआ उदाहरण है। यह 'चन्द्रालोक' के 'वर्षतीवांजनं नभः' का भावानुवाद है। इसकी व्याख्या भानुजी ने इस प्रकार की है—"अंजन में जो तम की कल्पना की वही उत्प्रेक्षा है।" आपको यह भी मालूम नहीं कि यहाँ कवि का वर्णनीय विषय क्या है और क्या उत्प्रेक्षा है। रात्रि में सर्वत्र फैले हुए अन्धकार का कवि ने वर्णन किया है। अंधकार में आकाश द्वारा अंजन के बरसाने की संभावना की है। अंजन का वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं था अतः अंजन में तम की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। भानुजी की वाख्या तो अप्रतिम होती है 'भवति हरिण लक्ष्मायें न तेजो निरस्तः'—चन्द्रालोक भी निरस्त हो जाता है। फिर वेचारे अंजन और तम की तो बात ही क्या, वे तो अन्धकार रूप ही हैं।

द्वितीय आक्षेप अलङ्कारक, लक्षण और उदाहरण "चन्द्रालोक" का उद्धृत कर उसका अनुवाद आपने इस प्रकार किया है।

'द्वितीय निषेधाभास है कोउ कविजन मत लेख,
हा नहिं दूति अग्नि तें तिय मन ताप विसेख।'

इस दोहा का उत्तरार्द्ध 'भाषाभूषण' से लिया गया है। व्याख्या इस प्रकार की है—"जहाँ निषेध का प्रतिबिम्ब मात्र देख पढे, सो निषेधाभास। जैसे—"मुझे दूती ही मत समझो, वरन् अग्नि से भी अधिक तिय की ताप हौं, अर्थात् नायिका की विरहाग्नि मुझे ही जानो। वह कहती है कि मैं साधारण दूती ही नहीं हूं, वरन् नायिका की प्रबल उत्कंठा मैं ही हूँ। यहाँ दूती तो दूती बनी रही पर नायिका की उत्कंठा हूँ, ऐसा भी कहा। इसमें निषेध की केवल छाया मात्र है।"

आपने निषेध का आभास क्या बतलाया, प्रत्युत एक रूप के बदले बेचारी दूती के दूती और नायिका की विरहाग्नि दो रूप बना डाले। आपने दूती के कथन के सम्बन्ध में जो व्याख्या की है,

वह वास्तविक नहीं, दूती का कहना तो यह है कि मैं दूती नहीं हूँ जो नायिका की विरह-ताप निवेदन करूँ, पर हा, नायिका को विरह-ताप अत्यन्त हो रहा है।' तात्पर्य यह कि दूती नायिका की विरहाग्नि की तीव्रता के सम्बन्ध में संदेश दे रही है, यह दूतीपने का कार्य करती हुई भी, वह कहती है मैं दूती नहीं हूँ। यही निषेध का आभास है। वास्तव निषेध नहीं है। खेद है कि संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों के अवतरणों पर इस प्रकार आपने व्याख्या करने की सर्वथा अनधिकार चेष्टा की है। ऐसे ही अनधिकारी पुरुषों से सत्काव्य की रक्षा करने के लिये कविराज राजशेखर ने कहा है—

'इदंहि वै दग्धरहस्यमुत्तम पठेन्न सूक्तिं कविमानिन पुरः।
न केवल ता न विभावयत्यसौ स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि॥'

कहाँ तक लिखें, प्रभाकर के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर इसी प्रकार के 'भानोः कवेर्नवतवाः वचसा विलासाः'—भानुजी के एक से एक बढ़कर वाग्विलास का परिचय उपलब्ध होता है जो कुछ ऊपर लिखा गया है, वह तो केवल दिग्दर्शन मात्र है। अगत्या बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जब आपको साहित्य विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं था, तो फिर क्यों तो आप स्वयं साहित्यकों की दृष्टि में उपहासास्पद हुए और क्यों 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के बेचारे सहस्रों परीक्षार्थियों को व्यर्थ में शिकार बना डाला। कहिये, ऐसी परिस्थिति में हम भानुजी की स्तुति करें या निंदा—

"किं निंदाम्यथवा स्तवामि कथय क्षीरार्णव त्वामहम्"

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	किसलयभलूनं	किसलयमलूनं
८	२६	सुरत-भ्रम	सुरत-श्रम
१०	१३	कुसानु	कृसानु
१०	१५	सिव ाज	सिवराज
१६	६	तत्रापि	तथापि
१७	७	धायन	घायन
२०	२८	न चुगा	न कुमार चुगा
२०	२८	कुपजे	कुबजे
२२	१७	कोकिल कंउ	कोकिल कंठ
२२	२२	विद्रम	विद्रु म
२५	१४	टुण्टुणन्तो	ढुण्ढुणतो
३२	७	वाच्य होना है,	वाच्य होना ही
३२	२०	त्रैकलिक	त्रैकालिक निषेध
३२	२१	अलङ्काररत्नाकर	अलङ्काररत्नाकर
४६	१७	एवंचास्मिन्नअलङ्कारे	एवंचास्मिन्नलङ्कारे
४७	१	विनास्याअनत्थानात्	विनास्या अनुत्थानात्
४७	१	अतएवेयमतिशयोक्त्यन-	अतएवेयमतिशयोक्त्यनु-
५६	१८	हमे	हमने
५६	१६	हमने	हमें
६४	२१	उपरोक्त	उपर्युक्त
६८	१४	मित्तिस्थानीयं	भित्तिस्थानीयं
६८	१५	मित्तिस्थान	भित्तिस्थान
८०	अन्तिम	वर्णन को	वर्णन की
८०	,,	निष्कर्य	निष्कर्ष
६४	२४	धन	घन
१०२	११	तस्यादातं	तस्यादातुं
१०६	२४	सोदरानन्द	सौन्दरानंद

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
११०	१६	नघृ ण्य''''	नैघृ ण्य
११०	१७	प्रही	प्रहीत
११५	१२	मुखसादं	मुखप्रसाद
११६	३	रमणीयवक्र	रमणीयवक्त्र
११६	१०	रति श्रेम	रति श्रम
१२०	५	स्मित	स्मित
१४४	६	यायावरिया:	यायावरीया.
१४५	२६	शत्त्य	शत्त्यो
१५०	१३	उपहास्पद	उपहासास्पद
१५३	२३	पूर्णामिमाभाविली	पूर्णाभिमामखिला
१५५	-३	अन्यर्थ	अभ्यर्थ
१७४	१०	है । आप और अन्य	है ।
१७४	१२	अंगो का वर्णन	अन्य अगो का वर्णन आप
१७५	अन्तिम	अपेच्यय	अप्राप्य
१८०	१६	येंगाद्वारेण	येङ्गद्वारेण

